साहित्य सुमनमाला सं०—७

अपराजिता

(प्रतिभाशाली कवि की मादक मर्म-मधुर कविताओं का संकलन)



रचयिता—अंचल

प्रकाशक—

छात्रहितकारी पुस्तकमाला,

दारागंज, प्रयाग

अगस्त १९३९ [मूल्य २)

प्रकाशक—
श्री केदारनाथ गुप्त, एम० ए०
प्रोप्राइटर—छात्रहितकारी पुस्तकमाला
दारागंज प्रयाग।

प्रथम प्रवेश

मुद्रक—
रघुनाथ प्रसाद वर्मा
नागरी प्रेस, दारागञ्ज,
प्रयाग।

अपराजिता की अधिकांश कवितायें मेरे पिछले दो-तीन वर्षों में लिखी गई हैं।

जिन परिचित और अपरिचित भाइयों, बहिनों ने मेरी कविताओं को पढ़कर अपनी संवेदना अयाचित ही मुझ तक पहुँचाई है उनकी कृपा का भार भी मेरे दुर्बल प्राणों पर है। उसे स्वीकृत करते समय इतना और कह देना होगा कि वह ख़ास किस्म की प्रेरणा जिससे कवि के अन्तर में बराबर स्वप्न और सत्य, सौन्दर्य और तृष्णा, असन्तोष और अभिशाप की आग लगती रहती है केवल उसी की सम्पत्ति नहीं होती।

—अंचल

प्रवेश

रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' नवीन हिन्दी काव्य का एक क्रान्तिदूत है। मैं उसे क्रान्ति का स्रष्टा भी कह सकता हूँ यदि स्रष्टा शब्द से केवल सृजनकर्त्ता का आशय हो। किन्तु यदि उसका तात्पर्य क्रान्ति को अपनी नैसर्गिक सीमा तक पहुँचा देने का हो तो स्रष्टापद अभी उसके लिए अनुपयुक्त होगा। अंचल अभी मार्ग में है, बहुत कुछ उसकी भविष्य की गतिविधि पर अवलंबित है।

क्रान्ति उसने की है, छायावाद की मानवीय किन्तु अधिकांश अशरीरी सौन्दर्य कल्पना के स्थान पर अपनी मांसल कृतियों द्वारा। छायावाद की सूक्ष्म उज्वल मर्मस्पर्शिता के बदले अपनी जीवंत रंगीनी द्वारा। इस क्रान्तिदूत का संदेश है तृष्णा, लालसा, प्यास। तृष्णा सौन्दर्य की, लालसा रूप की, प्यास प्रेम की। सौन्दर्य नारी का, रूप व्यक्त, प्रेम विनाशी अथवा जो विनष्ट हो चुका है। पूछा जा सकता है कि क्या यह कोई नया या क्रान्तिकारी संदेश है?

उत्तर में केवल हां कहना पर्याप्त न होगा, गत कतिपय वर्षों की हिन्दी काव्य की एक सामान्य रूपरेखा भी देखनी होगी। उन्नीसवीं शताब्दी के अंत अथवा बीसवीं के आरंभ में हिन्दी की दो ही प्रधान काव्यधाराएँ थीं। एक भक्ति प्रधान धारा और दूसरी शृंगार प्रधान धारा। दोनों का उद्गम एक ही अति उन्नत कृष्णकाव्य रूपी शैल शिखर से हुआ था किन्तु दोनों ही उस समय ह्रासोन्मुख हो रही थीं। भक्ति और शृंगार का, दिव्यता और लौकिकता का फूट कर पृथक् पृथक् हो जाना दोनों के लिए सबसे अधिक घातक सिद्ध हुआ।

किन्तु ह्रास का केवल यही कारण न था। दिव्यता और लौकिकता दोनों ही रूढ़िबद्ध भी हो गईं। एक मठों और मंदिरों में तथा दूसरी दरबारों और मजलिसों में। जीवनमय सांस्कृतिक स्रोतों से दोनों का संपर्क छूट गया। फलतः दोनों का अधःपात स्वाभाविक था।

क्या ही आश्चर्य है कि अधः पतन के चिह्न दोनों के एक से ही हैं। दिव्य (भक्ति) काव्य अपनी अलौकिकता की वृद्धि करता उस सीमा तक पहुँचा जहां नाना दिव्य लोकों की सृष्टि, अनेकानेक दिव्य सहचारियों के भेद तथा दिव्य नायक का दिव्य अष्टयाम आदि प्रचलित हुए और दूसरी ओर लौकिक काव्य भी नायक-नायिकाओं की अपार श्रेणी-शृंखला, ऋतुचर्या दिनचर्या और सहेट स्थलों के बहुविध भेदों को लेकर उपस्थित हुआ। समाज में एक ओर साधुओं की अलौकिक सिद्धियों और चमत्कारों का प्राधान्य हो गया तथा दूसरी ओर उसी पैमाने पर नाच-रंग और विलास सामग्रियां फैल चलीं। नाम और रूपभेद के रहते हुए भी वास्तविकता में वे एक-दूसरे के अति निकट आ गई थीं। दोनों में ही दुर्बल भावुकता, राजसिकता और राष्ट्रीय तथा सांस्कृतिक विच्छेद के चिह्न स्पष्ट दिखाई दे रहे थे।

आवश्यकता थी दोनों को एक में मिलाकर अथवा अलग-अलग ही उनका संस्कार करने की। अलौकिकता को मनोवैज्ञानिक वास्तविकता देने, कर्म-क्षेत्र में आत्मसाधन करने का और लौकिकता को लोक सामान्य या सार्वजनीन बनाने की। इसी प्रकार ये दोनों एक-दूसरे के निकट आकर क्रमशः एक हो सकते थे अथवा पृथक् रहकर भी सामूहिक संस्कृति के उन्नयन में योग दे सकते थे।

लौकिक और अलौकिक, भौतिक और आध्यात्मिक, वास्तविक और आदर्श क्या अलग अलग स्तरों पर हैं या ये एक ही मूलवस्तु के दो पक्ष या पहलू हैं? इस आनुषंगिक किन्तु आवश्यक प्रश्न का उत्तर दिए विना हम आगे नहीं बढ़ सकेंगे। प्रत्यक्ष और परोक्ष में

केवल दृष्टिभेद है या वस्तुभेद ? यह प्रश्न यहां काव्य और कलाओं के मूल्य निरूपण के विचार से ही पूछा जा रहा है। धार्मिक दृष्टि से प्रायः ये स्तर पृथक पृथक माने जाते हैं। किन्तु नवीन मनोविज्ञान इनमें वस्तुगत भेद नहीं मानता। काव्य में ये प्रायः एक दूसरे से मिले जुले पाए जाते हैं यद्यपि विशुद्ध आध्यात्मिक काव्य भी कबीर आदि निर्गुण संतों का लिखा पाया जाता है। मूलतः लोकातीत भावनामय, एक असीम तत्व का साक्षात्कार और अभिव्यक्ति चाहें वह मूर्त्त हो या अमूर्त, यही आध्यात्मिक काव्य का विषय कहा जा सकता है, यही आदर्शवाद की भी एक सर्वमान्य व्याख्या हो सकती है किन्तु यह व्याख्या धर्म और अध्यात्म की उन्नतावस्था में ही ठीक उतरती है तथाकथित रूढ़िबद्ध अध्यात्म तो आधुनिक मनोवैज्ञानिकों के अनुसार भिन्न भिन्न समयों और समूहों की मानसिक आत्मपूजा मात्र है। चाहे वह निर्गुण काव्य हो, अथवा सूफी अथवा उन्नतिकालीन भक्तिकाव्य ही क्यों न हो, सभी आदर्शवाद की श्रेणी में आते हैं। त्यागोन्मुख भावप्रधान मानव चरित्र भी इसी कोटि में संमिलित होंगे।

इस संपूर्ण आदर्श काव्य का एक सुप्रतिष्ठित दर्शन भी है जिसे व्यापक रूप से आध्यात्मिक दर्शन कहते हैं। असीम सत्ता की स्वीकृति और उस पर आस्था ही इसका मुख्य सिद्धान्त है। इसीसे प्रेरित होने के कारण आध्यात्मिक काव्य अपनी एक श्रेणी भी बना लेता है।

इससे भिन्न प्रत्यक्ष, लौकिक अथवा वास्तविकता प्रधान काव्य बौद्धिक दृष्टि को प्रधान मानकर चलता है, परिवर्तनशील सत्ता को प्रमुखता देता तथा आत्मा की अमरता के स्थान पर रक्तमांस की समस्याओं का संनिवेश करता है। शैली, दृष्टि और मान्यताओं में भेद होने के कारण यद्यपि ये दोनों सिद्धान्त पृथक् हैं किन्तु मानव

हृदय की समरसता सिद्धान्तों की चिन्ता न कर काव्यमात्र में समान रूप से रस पाने की अभिलाषिणी होती है।

दोनों दर्शनों की अपनी-अपनी उपयोगिता है। एक हमारे नैतिक और आध्यात्मिक आधारों को पुष्ट करता तथा दूसरा हमें सांसारिक सत्यों का साक्षात्कार कराता है। एक प्रत्यक्ष की ओर से बेपरवाह कर दिव्य शक्ति प्रदान करता है तथा दूसरा सांसारिक अभिज्ञता और अनुभूति प्रवणता का पाठ पढ़ाता है। अपनी उन्नतावस्था में दोनों एक दूसरे के सहकारी सिद्ध होते हैं किन्तु जब इनमें कट्टरता बढ़ जाती है, सांप्रदायिकता आ जाती हैं, लीक बन जाती है तब ये एक दूसरे के विरोधी शिविरों में रहने लगते हैं।

उदाहरण के लिए कट्टर प्रत्यक्षवादी दृश्यवस्तु को एक मात्र सत्य कह कर वस्तु-विज्ञान का सिद्धान्त उपस्थित करते हैं और द्रष्टा आत्मा की उपेक्षा करते हैं। वस्तु-तन्त्र इतिहास के पृष्ठों में भौतिक परिवर्तनों की ही मुख्यत: व्याख्या करता तथा उन्हें ही इतिहास के विभिन्न युगों की स्थितियों का प्रवर्तक तथा प्रधान हेतु बतलाता है। उनकी दृष्टि में धार्मिकता, आध्यात्मिकता या आदर्शवाद उच्च वर्गों, सत्ताधारियों की स्वार्थ पूर्ण सृष्टि है। नैतिकता की उनके यहाँ कोई स्थिर सत्ता नहीं, केवल राजनीतिक और सामाजिक आवश्यकताएँ ही नीति का निर्माण करती हैं। वस्तुवाद की प्राय: सभी प्रक्रियाएँ आदर्शवादी प्रक्रियाओं से भिन्न और उनके विपरीत हो जाती हैं। यह यौन समस्याओं का समाधान स्त्री-पुरुष के स्वेच्छा-सम्मिलन में मानता है और आदर्शवाद के त्याग, संयम आदि को अव्यवहार्य ठहराता है। प्रचलित समस्त व्यवस्थाओं और कानूनों को वह इसी विपरीत विचारधारा का परिणाम बता उनमें परिवर्तन या क्रान्ति चाहता है। मानों किसी काल-विशेष में किसी वर्ग-विशेष या मत-विशेष के कुछ चुने हुए व्यक्तियों ने एक बार जो कुछ कह दिया वही आज का कानून और व्यवस्था है। यह व्यवस्था

राष्ट्रों और जातियों के समष्टि अनुभवों का परिणाम है, ऐतिहासिक और प्राकृतिक सामाजिक प्रवृत्तियों और आकांक्षाओं का संघटित रूप है, यह नहीं समझा जाता। नई स्थिति के अनुसार नवीन संस्कृति का निर्माण कोई नई घटना नहीं है किन्तु यह निर्माण पूर्व (इतिहास) की पृठ-भूमि पर ही होता आया है और हो सकता है, ऐसा न मानकर कट्टर वस्तुवादी केवल अपने नवीन विज्ञान के बल पर जो आपात क्रान्ति कर डालना चाहते हैं वह उनकी एकाङ्गी संकीर्ण दृष्टि तथा अव्यावहारिकता का ही भ्रान्त परिणाम कहा जा सकता है।

इसी प्रकार कट्टर आदर्शवादी जगत् और उसके समस्त वस्तुव्यापार को नश्वर कह कर अपनी अलौकिक और ऐकान्तिक साधनाओं में लीन होते तथा प्रत्यक्ष मानवीय हितों की उपेक्षा करते हैं। समस्त लोक-व्यापार जड़ता या बंधन मानने के कारण वे लौकिक बुद्धि और उसकी अशेष उपयोगिताओं का तिरस्कार कर डालते हैं। एक असीम अनंत से जगत् के दुःखों और कष्टों का उपचार व्यावहारिक दृष्टि से कहाँ तक संभव है, दरिद्रता के पाप से किस प्रकार मुक्ति हो सकती है, त्याग और संयम के संदेशों का किन-किन हलकों में कैसा-कैसा दुरुपयोग होता है, इस ओर उनकी दृष्टि ही नहीं। सारा जगत् समान रूप से मिथ्या होने के कारण अमीरी और गरीबी, स्वदेशी और विदेशी सब उनके लिए एक से हैं--जो प्रत्यक्षतः एक अन्याय या कम-से-कम अन-भिज्ञता है। प्रायः इसी कारण स्थितिपालकता ही उनका लौकिक कार्य-क्रम बन जाता और जब कभी वे गद्दियों और पीठों के स्रष्टा हो जाते हैं तब सत्ताधारियों का पक्ष लेते रहना तथा प्राचीन परंपराओं का पृष्ठ-पोषण करते जाना उनकी नई धार्मिकता बन जाती है। धर्म, अध्यात्म या आदर्शवाद के इसी रूप को लेकर उनपर विपक्षियों के आक्रमण हुआ करते हैं।

किन्तु इन अतिवादों के खतरनाक कगारों के बीच में आदर्श और वस्तुवाद, अध्यात्म और लोकव्यापार की काव्य-सलिलाएं बहती हैं और मानवता को एक-सा जीवनरस प्रदान करती हैं। देश और काल की विभिन्न स्थितियों में एक या दूसरे का प्राधान्य देखा जाता है। काव्य और संस्कृति के नए-नए परिवर्त्तनों में इनमें से एक या दूसरे की कला प्रस्फुटित होती है। किन्तु उनमें ये अधिकांश एक दूसरे से मिले जुले ही रहते हैं। यह तो मैं पहले ही कह चुका हूं कि जब प्रगतिशील संस्कृति से इनका संबंध छूट जाता है तब ये दोनों ही ह्रासोन्मुख हो जाते हैं।

यहां एक आवश्यक शंका का समाधान किए बिना हम आगे नहीं बढ़ सकेंगे। पूछा जाता है कि कबीर आदिका निर्गुण काव्य तो संन्यास-मूलक और अध्यात्मपरक है किन्तु एक ओर उमर खैयाम और जायसी का सूफी काव्य तथा दूसरी ओर सूर और तुलसी का भक्ति काव्य किस प्रकार आध्यात्मिक माना जाय। उसमें तो लौकिक चरित्रों, घटनाओं और वातावरणों का उल्लेख है। क्या उन कवियों की प्रस्तावना से ही हम उन चरित्रों को अलौकिक मान लें? उत्तर में निवेदन है, नहीं। उन काव्यों के सांप्रदायिक और सांकेतिक उल्लेखों को छोड़ कर भी उनका अध्ययन करने पर उनकी आध्यात्मिकता और लोकोत्तरता स्पष्ट हो जाती है। उमर खैयाम का अदृष्टवाद और उसकी निराशा मूलक प्रेम कल्पना सात्विक और आध्यात्मिक हैं, यह हम किसी भी क्षण उनकी रुबाइयों का अनुशीलन कर देख सकते हैं। जायसी ने यद्यपि लौकिक कथावस्तु उपादान रूपमें स्वीकार की है किन्तु काव्य का प्रवाह अलौकिक प्रेम की रहस्यपूर्ण मार्मिक अभिव्यक्तियों से परिपूर्ण है। गोस्वामी-तुलसीदास जी के रामचरित्र का त्याग और मर्यादा अलौकिक है तथा सूर का कृष्णकाव्य अपनी भावनामयता और आनन्द की अपूर्व बौछारों तथा सौन्दर्य की तल्लीनताओं में एकदम अप्राकृत है। इसलिए

प्रश्न यह नहीं होता किसी कवि के काव्य का उपादान क्या है प्रश्न यह है कि किसी भी उपादान को लेकर उसने सृष्टि कैसी की है !

काव्य में उपादान की नहीं किन्तु 'निर्माण' की प्रधानता ऊपर के दृष्टान्तों से स्पष्ट हो जाती है। इसका सबसे सीधा प्रमाण यही है कि एक ही उपादान को लेकर विभिन्न कवियों ने नए नए निर्माण किए हैं जिनमें कुछ सफल कुछ असफल, कुछ वास्तविकता प्रधान कुछ आदर्श-प्रधान, कुछ उन्नत और कुछ ह्रासोन्मुख हुए हैं। उदाहरण के लिए वाल्मीकि और तुलसी में क्रमशः वस्तुमूलक व्यावहारिक और भावमूलक आध्यात्मिक प्रेरणाएँ प्रधान हैं। दोनों की कथावस्तु एक ही है किन्तु अभिव्यक्तियाँ भिन्न हैं। दोनों ही अपने अपने स्थान पर उन्नत अभिव्यक्तियाँ हैं। निष्कर्ष यह कि काव्य में प्रत्यक्ष या परोक्ष ऐसे दो बौद्धिक विभाग नहीं किए जा सकते यद्यपि ये दार्शनिक विभाग काव्य के इतिहास में अपना प्रचुर प्रभाव सदैव रखते आए हैं और भविष्य में भी रक्खेंगे। विशेष कर पश्चिम में जहाँ ये दो अलग अलग कठघरे बने हुए हैं जिसके कारण धार्मिक रहस्य काव्य की अलग ही धारा बही है और आध्यात्मिक मसीहाओं (Prophets) का अलग ही दल तैयार हो गया है, प्राकृतिक रहस्य-काव्यों की आध्यात्मिकता स्वीकृत नहीं हो सकी है जिससे वहाँ के काव्य-विकास में और काव्य के मूल्य-निर्धारण में अनुल्लंघनीय बाधाएँ समय समय पर आई हैं। लौकिक और अलौकिक ये दो पृथक् स्तर हैं तथा इनका सम्मिलन सम्भव नहीं है यह भ्रान्त धारणा ही इसके मूल में है। रस्किन और टेनीसन की धार्मिक अध्यात्मोन्मुख कृतियों का शेली, कीट्स आदि की प्रकृत आध्यात्मिक रचनाओं से श्रेष्ठ समझा जाना इसी गलतफहमी का परिणाम है।

यह भी नहीं समझना चाहिए कि काव्य में परिवर्तन इन बौद्धिक वादों-प्रवादों के फलस्वरूप हुआ करता है। काव्य में परिवर्तन मुख्यतः

राष्ट्र या जाति की सामाजिक और सांस्कृतिक प्रगतियों की प्रेरणा से ही होता है। यह बहिरङ्ग हेतु है तथा अंतरङ्ग हेतु है काव्य में नवीनता की बद्धमूल आकांक्षा। कभी कभी कवि की निजी असाधारण अनुभूतियाँ अथवा बौद्धिक धारणाएं भी काव्य को नूतन स्वरूप देती हैं किन्तु ऐसा कम ही अवसरों पर होता है। मुख्यत: ऐतिहासिक कारणों से काव्य नए रूप-रङ्ग धारण करता है। यह भी कह सकते हैं कि इन्हीं ऐतिहासिक कारणों से उक्त वाद-प्रवाद भी एक-दूसरे को स्थानान्तरित करके राष्ट्रीय और जातीय रङ्गमंचों पर आया करते हैं। इस प्रकार काव्य और दर्शन दोनों ही इतिहास की वस्तुएँ सिद्ध होती हैं। परिवर्तन काव्य का नियम बन जाता है।

अस्तु, उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त और बीसवीं के आरम्भ में जो दोनों (भक्ति और शृङ्गार की) ह्रासोन्मुखी काव्य धाराएँ प्रवाहित हो रही थीं उनके गतिक्रम में परिवर्तन सर्वप्रथम भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा उनके सहयोगी काव्याकाश के तारक मंडल ने किया। इन नए उन्नायकों ने एक नई सुकोमल दीप्ति और वेदना की एक दिव्य छटा छा दी। रूखी रूढ़ियों में एक व्यैयक्तिक आत्मा की आर्द्रता उत्पन्न हो गई।

एक नवीन मानव आदर्श का शिलान्यास हुआ जिसके दो अंग हुए देशभक्ति और मानवीय प्रेम। उस प्रेम में एक स्वर्गीय मृदुता थी, राधाकृष्ण के दिव्य प्रेम की परिछाहीं पड़ी हुई। देशभक्ति स्वभावत: अपने आरम्भिक स्थूल रूप में आई, वेदना का जाग्रत और अन्तर व्यापी साहचर्य उसमें न था। उक्त प्रेम की झलक हमें तत्कालीन नाटकों में विशेषत: मिलती है और देशभक्ति छोटी छोटी मुक्तक कृतियों में।

तथापि लोक और परलोक, शृंङ्गार और भक्ति के दोनों कुलावे अलग ही अलग रहे। आध्यात्मिक या पारलौकिक आदर्श तो भक्ति थी और लौकिक व्यवहार उक्त शृङ्गार का पल्ला पकड़े हुए थे। यह द्विधात्मकता उस समय के काव्य में सुस्पष्ट थी।

लौकिकता या लोक जीवन अलौकिकता से वस्तुतः भिन्न नहीं है, यह मानव काव्य की प्रथम प्रेरणा उन प्रेम कथानकों में मिली। अलौकिक भक्ति में प्राकृतिक अध्यात्म का यह पहला पुट पड़ा

इसी समय स्वर्गीय श्री महावीर प्रसाद जी द्विवेदी के आगमन से एक उच्च कोटिका नैतिक बुद्धिवाद हिन्दी में प्रसरित हुआ। प्रेम और शृङ्गार नाम की वस्तुएँ साहित्य से लुप्त हो चलीं। इसके साथ ही भक्ति काव्य भी जो शृङ्गारिक पृष्ठभूमि पर प्रतिष्ठित था, उपेक्षित होने लगा। इन दोनों के बदले देशभक्ति और नैतिक मानवता की प्रतिष्ठा होने लगी। श्री मैथिलीशरण गुप्त जी की 'भारत भारती' और श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय जी का 'प्रिय प्रवास' इन्हीं दो प्रवृत्तियों के प्रतीक हैं।

कृष्ण और राम के चरित्र अब भी काव्य वस्तु के रूप में रहे। उनकी लोकोत्तरता का पूर्ण पर्यवसान नहीं हो सका। उपाध्याय जी के प्रशान्त संयम और गुप्त जी की करुणापूर्ण भावुकता में विशुद्ध मानवता परिस्फुट नहीं हो सकी। अभी उनमें अलौकिकता शेष थी।

यही कारण है कि उन तथा उस युग के अन्य कवियों ने मानव चरित्र के स्तर पर केवल बड़े बड़े वीरों, महापुरुषो अथवा लोक नायकों को ही उतरने दिया। उनमें भी अधिकांश पौराणिक तथा कुछ मध्यकालीन राष्ट्र नेताओं के चरित्र थे। अलौकिक लोकोत्तरता के स्थान पर मानवीय लोकोत्तरता का आगमन हो गया।

यद्यपि श्रीधर पाठक प्रभृति अन्य कतिपय कवियों ने द्विवेदी युग की इस लौकिक लोकोत्तरता से ऊब कर प्राकृतिक सौन्दर्य की उपासना की तथा सामान्य जीवन से सम्बन्धित 'ऊजड़ ग्राम' आदि कृतियों का अंग्रेजी से उल्था किया किन्तु धार्मिक या अलौकिक अध्यात्म के स्थान पर पूर्ण मानव और प्राकृत अध्यात्म का आगमन हुआ स्वर्गीय श्री प्रसाद जी के हिन्दी क्षेत्र में प्रवेश करने पर।

निराला, प्रसाद और पन्त के अधिनायकत्त्व में हिन्दी काव्य का अपूर्व कायाकल्प हो गया। कल्पनाशील कवियों की टोली अपनी मानवीय अशरीरी सौन्दर्य पूर्ण रचनाओं मे नई ही छटा छाने लगी। यह टोली कुछ छोटी-मोटी न थी, न उनके काव्य की दिशाएँ सीमित थीं। अनेक दिशाओं में नए युग की मन्त्र-ध्वनि गूंज रही थी। निराला की प्रज्ञायुक्त कल्पना, प्रसाद की रहस्यमयी भावना और शक्तिमत्ता, पन्त की मनोहारी सौन्दर्य सृष्टि, नवीन और मिलिन्द की विद्रोही भावुकता, सुभद्राकुमारी की अति सरल आत्माभिव्यक्ति, माखनलाल जी की चमत्कारिक निगूढ़ व्यंजना, सियारामशरण जी की सामाजिक और बौद्धिक लघुआख्यान-रचना सभी नई नई सृष्टियाँ थीं और इनके अतिरिक्त कितनी ही अन्य छोटी-बड़ी प्रतिभाएँ काव्य में काम्य वैविध्य का संचार करने लगीं।

किन्तु ये सभी कवि एक विशेष युग की एक विशेष काव्यधारा के प्रतिनिधि हैं। इनकी विविधता के भीतर एक समता का स्रोत भी है। कतिपय समीक्षक इनके साम्यसूत्र को नहीं परख पाये हैं इसलिए वे यदा-कदा भ्रान्ति में पड़ जाया करते हैं। अपनी विशेष रुचि के अनुसार वे इनमें से एक या दूसरे की ओर आकर्षित हों यह उतना अनुचित नहीं जितना उस रुचि-विशेष को मानदंड बनाकर बुद्धि व्यापार को स्थगित कर देना। अभी एक साहित्यिक समीक्षा में निराला जी की 'सरोज स्मृति' नाम की उत्कृष्ट रचना को एक अति साधारण रचना से भी हीन इस आधार पर ठहराया गया था कि वियोग में सुधि-बुधि खोकर मूर्च्छित होने का उल्लेख निराला जी की उक्त रचना में नहीं है। संयमित अनुभूति-प्रवणता से उक्त समीक्षक परिचित ही नहीं जान पड़ते, यह कितनी हँसी और साथ ही दुःख की बात है।

जो सूत्र इस कवि वर्ग को एकतार और एकतान किए हुए है वह है मानव जीवन का प्रकृत अध्यात्म जिसे छायावाद का व्यापक नाम

दिया गया है। पूर्ववर्ती स्थूल लोकोत्तरता के स्थान पर यह सूक्ष्मतर अभिव्यक्ति छायात्मक ही कही जा सकती है। इस काव्य की आध्यात्मिकता भी सुस्पष्ट है यद्यपि वह रूढ़ अध्यात्म नहीं है। अधिकांश छायावादियों की दार्शनिक भित्ति वेदान्त या उपनिषद है। वे आत्मा की सत्ता स्वीकार करते हैं। इसके अतिरिक्त उनके काव्य में दो मुख्य विशेषताएँ ऐसी हैं जो उन्हें आध्यात्मिक सिद्ध करती हैं। प्रथम तो उनमें दुःख या निरात्म अन्तिम सिद्धान्त के रूप में गृहीत नहीं। दूसरे उनमें स्थूल इन्द्रियता का कहीं भी उल्लेख नहीं है। उनकी सौन्दर्य भावना है मानवीय किन्तु अतिशय सूक्ष्म—आध्यात्मिक।

मेरे इस कथन के अपवाद भी सम्भव है मिलें, किन्तु उन अपवादों से नियम की पुष्टि ही होगी। दुःख के आलंकारिक वर्णन तो बहुत मिलेंगे किन्तु दुःख में डूबा हुआ निरात्म दर्शन छायावाद में विरलता से प्राप्त होगा। दुःख की वास्तविक और प्रांजल अभिव्यंजना मुझे 'कामायनी' काव्य के कुछ स्थलों में जैसी प्रखर, उत्तप्त और अंधकाराच्छन्न मिली, अन्यत्र वैसी कहीं नहीं देख पड़ी। किन्तु दुःख रूप दर्शन और तज्जन्य विद्रोह छायावाद काव्य में नहीं देख पड़ता। यह विद्रोह उस अवस्था का द्योतक होता जब दुःख की सत्ता अखंड जीवन की अनुभूति को असम्भव कर देती। जब शैल शिखर के नीचे आकर यात्री निरुपाय होकर रुक जाता। महादेवी वर्मा जी का दर्शन यद्यपि दुःख पर स्थित है, किन्तु वह दुःख बौद्धिक और आध्यात्मिक भूमि में उतरने का उपक्रम मात्र बन गया है।

इन्द्रियता के सम्बन्ध में छायावाद काव्य स्थूल भूमि पर नहीं उतरता। उसकी अभिव्यक्तियाँ उच्च मानसिक स्तर पर हैं और अधिकांश छाया रूप कहीं-कहीं, जैसे पंत जी की 'उच्छ्वास की बालिका' और 'ग्रन्थि' के वर्णनो में जहाँ साकारता आए बिना नहीं रही, वहाँ भी वह सांकेतिक ही रक्खी गई है। कुछ आलोचक तो इसी सांकेतिकता को छायावाद

का मुख्य विशेषण मानकर उनपर प्रच्छन्न इन्द्रियता का अनुचित आक्षेप करते हैं। किन्तु छायावाद काव्य का व्यापक अनुशीलन करने पर यह आक्षेप निराधार सिद्ध हो जाता है।

यदि द्विवेदी कालीन काव्य की तुलना रविवर्मा की कला से तथा छायावाद की तुलना परवर्ती 'इण्डियन आर्ट' से की जाय तो मेरे विचार से इनमें साम्य की एक बड़ी मात्रा मिलेगी। क्या उपादानो का चुनाव, क्या चित्रण शैली, क्या दार्शनिक दृष्टि, क्या कलाकारों की रुचि और संस्कृति-सभी परस्पर मिलते-जुलते हैं। क्या ही अच्छा हो यदि इस साम्य के आधार पर सामयिक काव्य और चित्रकला पर एक तुलनात्मक निबन्ध लिखा जाय जिससे इस विषय पर ईप्सित प्रकाश पड़े।

सम्प्रति एक विद्रोह छायावाद की सूक्ष्म आध्यात्मिकता, अशरीरी सौन्दर्य कल्पना और भावातिरेक के विरुद्ध उठ रहा है जिसके उन्नायकों में 'अंचल' एक प्रमुख है। इसका यथार्थ स्वरूप अभी स्पष्ट नहीं हो सका है, यद्यपि इसे वस्तुवाद, मार्क्सवाद, हँसिया-हँथौड़ावाद, रोटीवाद, प्रगतिशील साहित्य आदि बहुत से नाम दिये जाते हैं। अभी यह निर्माणावस्था में है। इसका कोई सुनिश्चित दर्शन हो ही ऐसा आग्रह भी नहीं किया जा सकता। अपनी प्रगतिशीलता का परिचय देने के लिए अथवा मार्गोपदेष्टा बनने के लिए कई प्रकृत छायावादी भी इस क्षेत्र में आ रहे हैं जैसे छायावाद का आरम्भ होने पर कई प्राचीन पथिक नई भूमि में पदार्पण करने लगे थे। पता नहीं उन्हें इस क्षेत्र में कहाँ तक सफलता मिलेगी। जो लोग कविता को हृदय या आत्मा की वस्तु मानते हैं उन्हें इन प्रयासो की कृत्रिमता अवश्य खटकेगी।

प्रगतिशीलता मनुष्य का गुण हो सकता है, काव्य का गुण तो है उसमें व्यक्त अनुभूतियों की सच्चाई, मर्मस्पर्शिता और सौन्दर्य। प्रत्येक मनुष्य प्रगतिशील कहलाने की इच्छा कर सकता है किन्तु प्रत्येक मनुष्य ये काव्यगुण कहाँ से लावेगा?

हम दूसरों को अपना दूसरा रूप दिखा सकते हैं किन्तु अपने आपको कैसे ठगा जा सकता है ? इसलिए मेरा निवेदन है कि इस नई भूमि में वे ही आकर सफल हो सकेंगे जिनमें वह ज्वलन्त नैसर्गिक अनुभूति है। मुझे यह भी अभीष्ट प्रतीत होता है कि प्रगतिशीलता का मोह काव्य और कलाओं के क्षेत्र से दूर कर दिया जाय और इसका मुख्य उपाय है साहित्य में समदर्शी (Catholic) दृष्टि का प्रचार करना, काव्य के उत्कर्ष को वादों के उत्कर्ष से सदैव ऊपर रखना और किसी भी वाद को सामयिकता या प्रगतिशीलता का एक मात्र प्रमाण न मान लेना। यदि इन उपायों से काम लिया जाय तो हिन्दी काव्य का आगामी उत्थान प्रकृत और अबाध गति से हो सकेगा। जब गाँधी जी की राजनीति आध्यात्मिकता पर प्रतिष्ठित होकर भी आधुनिक हो सकती है तब साहित्य में यह नियम अपवाद क्यों हो ?

यहाँ मुझे कहना है कि नवीनता के नाम पर जो-जो वाद आविर्भूत हुए और चल रहे हैं वे सब के सब वास्तविक काव्य सृष्टि के हेतु नहीं हो रहे हैं, तथा कहीं-कहीं तो शुष्क वादमात्र सिद्ध होते हैं। कहीं-कहीं यह भी देखा जाता है कि कविगण अपनी प्रकृति और स्वाभाविक प्रतिभा का अनादर कर नए क्षेत्र में आगन्तुक (Foreigner) से बन जाते हैं। जिस व्यक्ति को अत्यावश्यक काव्यानुभूति और कला की अभिज्ञता नहीं है वह किसी भी प्रगतिशील वाद का सहारा लेकर कुछ कर नहीं सकता। इन आरम्भिक अनुकथनों के बाद मैं यह कहूँगा कि 'अंचल' इन अपवादों से ऊपर है, वह किसी वाद की नियोजना नहीं कर रहा, केवल काव्य कर रहा है। इसलिए वह क्रमागत काव्य-धारा से सर्वथा टूटकर अलग नहीं हो गया है, उसका क्रम-विकास सुरक्षित है।

किन्तु वह क्रम-विकास छायावाद की मुख्य धारा से भिन्न अवश्य है, इसका सब से सीधा प्रमाण मेरे निकट यह है कि आरम्भ से ही उसके

हिन्दी में आने पर मेरे मन में उसके प्रति एक विराग, एक उलझन उत्पन्न हो गई थी। इस विराग और उलझन का एकमात्र कारण यह था कि छायावाद की मंजुमनोरम भावनाओं के रसपान के पश्चात् इस विद्रोही के 'गदले गीत' अरुचिकर हो रहे थे। 'गदले गीत' से यहां मेरा मतलब साकार और स्पष्ट शृङ्गारिक निर्देशों से है। यही नहीं जब मैंने अंचल को अपने लिए पापी और विलासी विशेषण प्रयोग करते देखा ('जल जल उठते कितने पागल पापी प्राण विलासी') तब आश्चर्य की सीमा नहीं रही। आश्चर्य इस कारण और अधिक हो गया था कि उन दिनों अंचल अकेला इस तरह की रचनाएँ कर रहा था। इसीलिए आरम्भ में मैंने उसे क्रान्ति का स्रष्टा लिखा है।

सत्य की रक्षा के लिए यहाँ यह कहना आवश्यक है कि अंचल के कुछ पहले ही एक बौद्धिक हलचल छायावाद के कतिपय सीमान्तों में उठ चुकी थी। उनमें से एक महादेवी वर्माजी के काव्य की चित्रात्मकता के रूप में परिणत हो गई। उनके काव्य के इस बौद्धिक पहलू की ओर ध्यान न देकर जो लोग उन्हें मीराँबाई की सहज परंपरा में मानते हैं वे काव्य-कला के प्रति अन्याय करते हैं। अस्तु, दूसरी हलचल भगवती चरण वर्मा जी की दुःखात्मक मादकता बन कर रह गई। बहुत पीछे वही 'कलकत्ते की ट्राम' और 'भैंसा गाड़ी' के रूप में प्रकट हुई। अंचल इसके कई वर्ष पूर्व 'कनक रेणु का रानी' की समाधि पर अपने तृष्णा गान गाने लगा था। हरवंशराय बच्चन तब तक अज्ञात और 'अज्ञेय' अविज्ञात थे।

मैं कह चुका हूँ कि इन 'खुले' 'बोलते' या 'गदले' गीतों के लिए मैं तैयार न था। किन्तु इनमें एक अनोखा चटकीलापन तथा इनके निर्माण में एक विलक्षण वेदना का प्रत्यय मिल रहा था। कुछ ही प्रयास से मैं जान सका कि अंचल स्मृति का पुजारी और विरह का उपासक कवि है। सौन्दर्य के प्रबल आकर्षण, दैव के कठोर आघात और यौवन-

सुलभ भावोद्वेग ने मिल कर उसे विद्रोही बना दिया है। यद्यपि विद्रोह की उत्पत्ति दैवदुर्विपाक से ही हुई किन्तु उसका असर काव्य में व्यापक रूप से फैला हुआ है।

यहाँ पुनः एक प्रासंगिक प्रश्न उपस्थित होता है। कहा जाता है कि यह अति नवीन कविवर्ग भोगवादी है। भोगवाद के मूल में वस्तुवाद की दार्शनिक उपपत्ति को कारण बतलाते हैं। किन्तु मैं इससे सहमत नहीं हूँ। योरप में वस्तुवाद प्रधानतः सामाजिक दुःखात्मकता की नींव पर स्थापित है और उसके अधिकांश कवि भोगेच्छा से नहीं नैराश्य से अनुप्रेरित हैं। कुछ लोग उमर खैयाम को जो आधुनिक काव्य का एक मुख्य प्रेरक है भोगवादी समझते हैं। इससे बढ़कर ना समझी और क्या होगी! उमर खैयाम चतुर्दिक नैराश्य के वातावरण में प्रेम की एक मीठी, अतिमीठी कल्पना करता है। वह प्रेम भोगोन्मुख नहीं एकदम आध्यात्मिक है। कुछ लोग यह भी आक्षेप करते हैं कि उमर खैयाम के निराशावाद या बुद्ध के क्षणिकवाद को फैलाने का अनौचित्य आधुनिक कवि कर रहे हैं। इस संबन्ध में पहली बात तो यह है कि वाद किसी व्यक्ति विशेष के उत्पन्न किए या फैलाए नहीं फैलता। सामूहिक स्थिति ही किसी वाद की सृष्टि और प्रसार करती है। दूसरी बात यह है कि वाद कोई भी हो हमें उस वस्तु का निरीक्षण करना चाहिए जो उस पात्र में रक्खी है। संसार को क्षणिक और दुःखपूर्ण प्रायः सभी आध्यात्मिक दर्शन, वे भारतीय हों या अभारतीय, मानते हैं। आधुनिक काव्य में इसका प्रवेश पाना कुछ भी अनुचित नहीं। देखना यह है कि कवि अपने दर्शन के आधार पर मनोरम सृष्टि कर रहा है या नहीं। संसार को क्षणिक मानकर वह स्वयं किस ओर जा रहा और हमें कहाँ ले जा रहा है। निराशा और दुःख की जो अनुभूतियां देकर वह हमें द्रवित कर रहा है उनका निर्माण वास्तविक या केवल काल्पनिक आधार पर किया गया है। वे हमें सहनशील बनाती और

आत्म-साधना की ओर ले जाती है या केवल क्षीण भावुकता और उत्तेजना उत्पन्न करती है। विद्रोह करती हैं तो आवश्यक शक्तिमत्ता के साथ या केवल शाब्दिक विद्रोह। संक्षेप मे वह काव्य ह्रासोन्मुख है या विकासोन्मुख।

भोग विकासोन्मुख काव्य का लक्षण नहीं हो सकता। इसका स्पष्ट कारण यह है कि भोग स्वतः कोई अनुभूति नहीं है। वह इन्द्रियों की विवशता मात्र है। काव्य और भोग परस्पर विपरीत वस्तुएं हैं। दोनों का सामजस्य असंभव है। जब-जब ये दोनों एक दूसरे के निकट आए हैं, काव्य की अधोगति हुई है। दरबारी कवियों का दृष्टान्त सब की आखों के सामने है।

मुझे स्मरण है, दस बारह वर्ष पूर्व जब छायावाद की प्रारंभिक प्रतिष्ठा हो रही थी पडित रामचन्द्र शुक्ल जी ने उसपर कायवृत्तियों के प्रच्छन्न पोषण और प्रकाशन का आरोप किया था। किन्तु छायावाद की प्रगति ने उनके उस आरोप को अयथा सिद्ध कर दिया है। आज मेरे मन मे भी वैसी ही एक शका हिन्दी काव्य की आगामी प्रगति के संबन्ध में उठ रही है। यद्यपि समयानुसार काव्य के प्रतीकों और उसकी गतियों में परिवर्तन होना स्वाभाविक और अवश्यंभावी ही नहीं अतिशय उपादेय भी है किन्तु मुझे आशा करनी चाहिए कि नवीन परिस्थिति से उत्पन्न नए जीवन स्रोतों में डूब कर भी हमारे कविगण अपनी आत्मा और विवेक के रत्नों को डूबने नहीं देंगे।

यौवनसुलभ सौन्दर्य की लालसा, जहा वह सौन्दर्य तक ही सीमित है, भोग नहीं है। यदि उसमें पर्याप्त निस्संगता है तो वह काव्य का आभूषण ही है। निस्संगता का अन्दाज हमें चित्रण की परिपुष्ट और सुनियमित (Graphic) रेखाओं, मुद्राओं, इंगितों और उन उद्दीपनों द्वारा लगेगा जो उसमें नियोजित हैं। जहाँ सौन्दर्य का विवरणात्मक सुशोभन वस्तुचित्र मात्र है तथा चित्रण में उच्चकोटि का मानसिक

अध्याहार भी है, वहां उस सौन्दर्य की प्यास, लालसा या तृष्णा अपवाद योग्य नहीं है। काव्य में सर्वत्र 'क्या' के स्थान पर 'कैसा' प्रश्न ही उपयुक्त होता है !

दुःख और विषाद की पृष्ठभूमि पर ये तृष्णा, लालसा और प्यास और भी खिलती हैं। मैं कह चुका हूँ कि अंचल मुख्यतः विनष्ट सौन्दर्य की विषण्ण स्मृतियों का गायक है। किन्तु यत्र-तत्र संयोग श्रृंगार के जो चमकीले वर्णन मिलते हैं वे विवरणपूर्ण वस्तुमत्ता तथा प्रचुर कल्पना प्रवणता के कारण प्राकृतिक सुषमापूर्ण ही हुए हैं। यद्यपि उत्तेजनाशील इन्द्रियता भी कहीं कहीं है। तथापि यहां अंचल के काव्य का एक क्रमबद्ध किन्तु संक्षिप्त अनुशीलन कर लेना अधिक अच्छा होगा।

'मधूलिका' और 'अपराजिता' ये ही दो अंचल के काव्य-संग्रह हैं। ये दोनों ही नाम छायावादी हैं और यह शंका उत्पन्न करते हैं कि अंचल ने पुरानी लीक छोड़ी भी है या नहीं। कुछ लोग सम्भव है यह भी कहने को तैयार हों कि अंचल ने छायावाद के साथ वही सलूक किया है जो लखनऊ के ह्रास-कालीन कवियों ने पूर्ववर्ती उर्दू कविता के साथ किया था। खुमारी, मादकता और उत्तेजना ही उसकी देन है। यह विषय विवादग्रस्त हो सकता है किन्तु मेरे मन में इस विषय की शंका नहीं है कि अंचल में ह्रासोन्मुख प्रतिगामिता नहीं जीवंत क्रान्ति के लक्षण हैं। अंचल के स्वरों में प्रसुप्त और क्षीण नहीं जाग्रत और प्रदीप्त अतृप्ति का विह्वल रोदन है—

वासना बस कुछ न पूछो, है विरस निष्फल जवानी,
प्रखर अनियंत्रित महाविच्छेद की जलती निशानी।
ले प्रलय सी एक आकांक्षा विपुल बरबाद यौवन—
मिट रहा अतृप्त वंचित लख न पाईं तुम अचेतन।

अथवा—

आज की रजनी बड़ी लोलुप जलन से तम लथपथ,
आज निद्रा भी न आती कौन अन्तर है रहा मथ।
आज मे जीवन मरण में रह गया कोई न अपना,
आज तो बस प्राण ले लेगा भयंकर रूप सपना।

आदि पंक्तियों में यह स्वर विशेष स्पष्ट है। इसका दूसरा प्रमाण यह भी है कि अंचल अपनी विद्रोही भावना के बल से उन्हीं दार्शनिक भूमियों पर आया है जिनपर अन्य नए क्रान्तकारी आए हैं। एक तीसरा प्रमाण यह है कि वियोग की वह्नि में वह माधुर्य-पुञ्ज को जला रहा है—वही माधुर्य पुञ्ज जो खुमारी, मादकता आदि में परिणत होता है। इसलिए पुस्तकों के नामों के आधार पर कोई निष्कर्ष न निकाल कर हमें उनके अंतरंग में प्रवेश करना होगा।

प्रसन्नता की बात है कि 'मधूलिका' और 'अपराजिता' में अंचल के काव्य का एक सुन्दर क्रम निरूपित है। 'मधूलिका' में तृष्णा की प्रथम पुकार (आवाहन), रूपपरी या रतिरानी का आगमन, प्रणय निवेदन, तृष्णा की जागृति और तृष्णारूप पाप का समर्थन (सौन्दर्य से कौन आकर्षित नहीं होता, किसे प्यास नहीं लगती), 'वेणी बंधन' आदि की सुन्दर वर्णना और अचानक ही रूपपरी का जलती निशानी छोड़ कर अदृश्य हो जाना—यह सारा ऊपर का वर्णन मानों आगे आने वाले 'महाविच्छेद' की प्रस्तावना मात्र बन कर रह जाता है।

अंचल की विरह-साधना में बड़ी ही एकनिष्ठ, सजग, विह्वलताकारी तथा जीवनमय अनुभूतियों का संग्रह है। कवि के वास्तविक विद्रोह का यहीं से आरम्भ होता है। 'अरमानों और साधों की अशेष आहुतियाँ' डाल कर उसने विरह-वह्नि को जगा रक्खा है। नैराश्य की तमिस्रा में जीवन पर एक दृष्टि डालने के लिए उसे इस आग का ही सहारा है। अतः उसका तमाम दर्शन इस आग की आँच से प्रज्वलित और पिघला हुआ है।

'सखी' नामक रचना में अंचल के दार्शनिक विचारों की एक झलक मिलती है। इनका एक क्रम बना कर उपस्थित करने की आवश्यकता इसलिए नहीं है कि ये क्रमबद्ध होकर भी उतने ही संगत या असंगत होंगे जितना बिना क्रम के। 'आज ही, वर्तमान क्षण ही, सब कुछ है, भविष्य की क्या आशा। कल होगा इसका निश्चय क्या ? (प्रेम के) नशे में उन्मत्त होना ही सुख है। वृद्धावस्था आने पर कंधों के लिए माथे का भार भी दूभर हो जायगा। मंजिल की परवाह न कर चलते ही रहना है। सभी अपने आप में मस्त हैं, यहाँ हमें कोई ढूँढ़ेगा यह आशा ही व्यर्थ है। यौवन का उभार और मदिरा (प्रेम तन्मयता) का ज्वार जो अभी है, फिर बहुत दिनों तक न मिल सकेंगे। सब को अपनाते हुए, सब से हृदय मिला कर चलना ही सार है। हम चाहे किसी को न भाएँ हमको सब भाते हैं।'

'संसार में दुःख-पीड़ा देख कर व्याकुल होने की आवश्यकता नहीं। प्रेम के दीवानों ने जगत के दुःखों को ही सुख मान लिया है। अभी जीवन में कितने ही झंझावात (अंधड़) चलेंगे। कितने बार दीप बुझेंगे। इनकी क्या चिन्ता ? हम सदा पुलकित और प्रहर्षित रहेंगे।

'उर में आग नयन में पानी,
होठों में मुसकान सजा।
हम हँसते इठलाते चलते,
इतरा इतरा बल खा खा।
अपनी तरणी फेंक प्रलय की,
लहरों में खुल खेलें हम।
आज भाग्य के उल्कापातों,
को हँस हँस कर झेलें हम।'

ये काफी संवेदनापूर्ण और दुखी मनस्थिति के द्योतक हैं। अंचल की ये अनुभूतियाँ अधिकाँश व्यैयक्तिक हैं किन्तु इन्हीं में उस समवेदना

का स्रोत भी निहित है जो आर्त और पीड़ित-मात्र के प्रति प्रेम से उद्विग्न हो उठती है। उसके काव्य का यह दूसरा पहलू भी दर्शनीय है:—

और चलीं तूफ़ान फूंकती वे पथ-कन्याएँ संतप्त,
जिनकी कृश जंघाओं पर संघर्ष मनाते थे उन्मत्त।
जिनकी छाती के गड्ढों पर दीप वासना के जलते,
जिनके नील कपोलों पर मतवाले गाहक मुख मलते।

और उन मतवाले गाहकों (अमीरों) का जघन्य परिचय उसने इस प्रकार दिया है:—

जिनकी आँखों में मदिरा नस नस में कामुकता उद्दाम,
बर्बर पशुता से लथपथ जो पी जाते नारी के जाम।
किन्तु तनिक दिन ढलते ही ठुकरा देते जो भस्म समान,
तृषित सतृष्ण दृगों से लखने को जघन्य औरों का काम।

अवश्य यह जघन्यता केवल नारी के उत्पीड़क इन नर-कीटों तक ही सीमित नहीं है। वह और भी बहुत व्यापक है। किन्तु अंचल का यही मुख्य काव्य विषय होने के कारण उसने इन्हीं का उद्धरण देकर इन्हीं के प्रति विद्रोह प्रकट किया है।

यहीं अंचल ने प्रचलित प्रथा के अनुसार ईश्वर पर भी छींटे कसे हैं। देवताओं को तो वह प्रेमी जनों की साधना का दृश्य दिखा कर ही संतोष करता है:--

इन अमरों को आज दिखा दें,
कैसे प्रेमीजन होते।
कैसे प्यासे प्यास बुझाते,
कैसे मधुप मगन होते।

किन्तु ईश्वर पर उसका आक्रोश अधिक उग्र है:—

ऊपर बहुत दूर रहता है शायद आत्म प्रवंचक एक,
जिसके प्राणों में विस्मृति है उर में सुख श्री का अतिरेक।

जिसका ले ले नाम युगों से माँस लुटाते तुम रोये।
किन्तु न चेता जो निशि-निशि भर जब न क्षुधातुर तुम सोये,
आज अस्त हो जाय वही अभिशाप अस्त रौरव पोषक,
अरे, वही दुर्दान्त महाउन्मत्त हड्डियों का शोषक।

आक्रमण के लिए ईश्वर के बराबर सस्ती और महत्वपूर्ण वस्तु मिल ही क्या सकती है खास कर भारतवर्ष में जहाँ कोई संघटित 'चर्च' है ही नहीं! किन्तु इससे सिद्ध होता है कि भारतीय धार्मिक इतिहास का स्वतंत्र अध्ययन न कर किस प्रकार पश्चिम की सुनी-सुनाई पद्धति का अंधानुकरण किया जा रहा है। आवश्यकता है भारतीय राष्ट्रीय इतिहास के अध्ययन की और तदनुसार ही काव्य की गति निर्धारित करने की, ऐसा न होने से शक्तियों का अपव्यय होता है तथा सच्ची राष्ट्रीयता के निर्माण में अड़चन आती है। आशा है अंचल के अतिरिक्त अन्य कवि-गण भी इस राष्ट्रीय समस्या की ओर ध्यान देंगे। कवियों के हाथों में राष्ट्र निर्माण का दायित्व सदा रहा है और सदैव रहेगा—यह बात दूसरी है कि वे इस जिम्मेदारी से छूटने की सस्ती चेष्टा करें। किन्तु यह दूरदर्शिता नहीं एक घातक चेष्टा ही कही जायगी।

'अपराजिता' में अंचल की अनुभूतियाँ अपेक्षा से अधिक व्यापक और बहुमुखी हो गई हैं। यद्यपि 'अपराजिता' आद्यंत एक वियोग काव्य है किन्तु वियोग के अंतर्गत कवि की अनेकानेक अंतरवृत्तियों और मनोदशाओं का समारोह देखने योग्य हुआ है। इन पद्यों को पढ़ने पर यदा-कदा बाइरन और माइकेल मधुसूदनदत्त का स्मरण आता है। इसमें एक व्यैयक्तिक प्यास और विषण्णता है जिसके कारण यह 'उत्तररामचरित' के स्मृति बहुल विशुद्ध करुण संगीत से भिन्न है। न इसमें 'उत्तररामचरित' का सा प्रकृति का प्रशस्त रंगमंच है। किन्तु अंचल की व्यैयक्तिकता सर्वथा ऐकान्तिक नहीं है न उसमें कोरी कल्पना की प्रधानता है। व्यैयक्तिकता में जहां ऊपर लिखी आशंकाएँ

होती हैं वहीं उसकी एक विशेषता भी है। बिना व्यैयक्तिकता के विद्रोह पनप नहीं सकता। कहने की आवश्यकता नहीं कि अंचल का विद्रोह इसी व्यैयक्तिक पहलू को लेकर है।

पूछा जा सकता है कि इस व्यैयक्तिक पहलू को लेकर विद्रोह हो कैसे सकता है? किसी आकस्मिक, दैवी या व्यैयक्तिक घटना से भी क्या कभी विद्रोह की सृष्टि हुई है? यदि वह हो भी तो केवल अदृष्ट या दैव के विरुद्ध ही तो होगी? विस्तीर्ण मानव जगत से उसका क्या सम्बन्ध? इन प्रश्नों का उत्तर पाठकों को 'अपराजिता' पढ़ लेने पर मिलेगा। वे देखेंगे कि सम्पूर्ण काव्य में एक आकस्मिक घटना कितने विद्रोही भावों की—सृष्टि करती है—वियोग और विद्रोह किस प्रकार एक दूसरे से होड़ करते हुए चले हैं। किस प्रकार एक की शक्तिमत्ता दूसरे को जीवनव्यापी बनाती है :—

बीच भंवर में पाल गिराकर ओ नैया के खेने वाले।
देखो पानी की बुनियादें जहाँ पहुंच जाते मतवाले।
लहराया करते लहरों में सपने श्याम मरण के आकर।
मस्ती की तालों पर जब उफनाया करता बेसुध अंतर।
चिर विद्रोही मस्तक जिसका बस निज आवर्तों में झुकता।
दूर निगाहों से नीचे भी अक्षय जिसका स्रोत न रुकता।

तो भी 'अंचल' का मुख्य कार्य अपराजिता में वियोग की उन्मादिनी अनुभूतियों का प्रकाशन ही है। उसकी तृष्णा की नई पुकार नए युग की प्रतिध्वनि है। इस नई पुकार का एक भविष्य भी है, वही जिसे मैं अंचल की 'क्रान्ति-सृष्टि की नैसर्गिक सीमा' ऊपर कह चुका हूँ। तभी यह तृष्णा की पुकार युग वाणी के रूप में परिवर्तित हो सकेगी। काव्य के इतिहास में इसे छायावाद के एक श्रेणी आगे की सृष्टि सिद्ध होना चाहिए। इसके लिए इतना ही आवश्यक नहीं कि छायावाद की निराकारता के स्थान पर साकारता की अभिवृद्धि हो, व्यैयक्तिक

भावुकता के स्थान पर निस्संग वैज्ञानिकता का भी आगमन होना चाहिए। चित्रणों में अधिकाधिक वस्तुमत्ता (Objectivity) का सौन्दर्य आना चाहिए और युग-जीवन की प्राणमयी धाराओं का यथार्थ संचय होना चाहिए। जहाँ-जहाँ जीवन की गतियाँ अवरुद्ध हैं वहाँ-वहाँ कवि की संवेदना सब से पहले पहुँचनी चाहिए। युग की वास्तविकताओं को खुले दिल और खुली आँखों न देख कर उन्हें अभिशाप मानने और उनसे दूर भागने की चेष्टा जितनी प्रतिगामिनी है उतना ही प्रतिगामी है नकली और ह्रासोन्मुखी सामाजिक प्रवृत्तियों को नैतिकता और वास्तविकता का बाना पहनना। जिस प्रकार निराधार भावुकता आध्यात्मिक या आदर्शवादी साहित्य का एक दूषण है- उसी प्रकार सस्ती अनैतिक उत्तेजना वस्तुवादी साहित्य का। मैं यह मानने को तैयार नहीं हूँ कि जिस समय जैसी प्रवृत्ति हो रही है उसका प्रकाशन ही कभी श्रेष्ठ साहित्य का गुण हो सका है। जाग्रत चेतना द्वारा अनुभूतियों का संयमन (Culture) और परिष्करण भी अत्यावश्यक है।

स्वर्गीय प्रसाद जी ने एक बार मुझसे कहा था कि हम हिन्दी में शरच्चन्द्र को देखना चाहते हैं पर हिन्दी-भाषी क्षेत्र में वह समाज कहाँ है जो शरच्चन्द्र के उपन्यासों में है! मैं नहीं जानता बंगाल में ठीक वही समाज है या नहीं जो उन उपन्यासों में चित्रित है और न यही कह सकता हूँ कि वहाँ और यहाँ के समाजों में वास्तविक अन्तर कितना है। किन्तु प्रसाद जी की वह बात उस समय मुझे इसलिए अच्छी लगी थी और इस समय इसीलिए स्मरण आई कि उसमें एक सूक्ष्म किन्तु अकाट्य सत्य निहित है जिसकी ओर सब की दृष्टि सहसा नहीं जाती। वह सत्य यह है कि प्रत्येक युग के साहित्य पर उस युग की सामाजिक संस्कृति का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता ही है। पूर्ण आध्यात्मिक साहित्य भी अपने युग की संस्कृति की उपेक्षा नहीं कर सके हैं अनिवार्यतः उससे प्रभावित हुए हैं। युग की उच्च संस्कृति का

सम्बन्ध विच्छेद होने से उनका ह्रास भी हो गया है। जब आध्यात्मिक साहित्य जो अपने को शाश्वत आध्यात्मिक या नैतिक सत्ता के आधार पर प्रतिष्ठित कहता है युग-संस्कृति की उपेक्षा नहीं कर सकता तब वस्तून्मुखी साहित्य उससे पृथक् रह ही कैसे सकता है। भारतेन्दु से लेकर आज तक की साहित्यिक प्रगति में यह हम अच्छी तरह देख सकते हैं (ऊपर संक्षेप में इसका निर्देश किया भी जा चुका है) कि किस प्रकार साहित्यिक आदर्शों में सामयिकता की छाप रहती है। स्त्री पर्दे की वस्तु या छायात्मक भाव संकेतों की पात्री न रह कर सामाजिक प्राणी के रूप में प्रतिष्ठा पा रहा है, यह अंचल के काव्य से सुस्पष्ट हो जाता है इसीलिए मैंने साहित्य को इतिहास की वस्तु ऊपर कहा भी है। अब कहना इतना ही शेष रहा है कि नवीन युग की नवीन साँस्कृतिक रुचियों और प्रगतियों के अनुरूप साहित्य रचना करते हुए हमें दो बातें कभी नहीं भूलनी चाहिए। एक यह कि हम अपनी आत्मा—अपने हृदय का सर्वश्रेष्ठ सत्य सब के सामने रख रहे हैं (चाहे इससे किसी को चोट ही क्यों न लगती हो) और दूसरी यह कि हम साहित्य की—काव्य की रचना कर रहे हैं जिसका अनिवार्य अंग है सौन्दर्य (चाहे उस सौन्दर्य की व्याख्या कुछ भी हो)। इन दोनों का उचित ध्यान रखने पर साहित्य के सम्यक् और निर्बाध विकास में कोई अड़चन नहीं आ सकती।

मुझे खेद है कि मैंने अंचल के काव्य के सम्बन्ध में ऊपर इतना लिखकर भी उसकी काव्य-कला और अभिव्यक्ति के सौन्दर्य उसके गुण और दोष के सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा। इसका प्रधान कारण यही है कि तथाकथित सत्य के अनुशीलन में हम इतने व्यस्त हैं कि सौन्दर्य के निरीक्षण का समय ही हमारे पास नहीं। किन्तु मुझे आशा करनी चाहिए कि सत्य का भार हलका होने पर सुन्दरता की ओर भी कभी हमारी दृष्टि जायगी।

—नन्ददुलारे वाजपेयी

अपराजिता

जलती निशानी

फिर विकल हैं प्राण धू धू, उड़ चली जलती निशानी

फिर पिपासा की परिधि में माधुरी का पुंज जलता
आज मधु रजनी न पूछो कौन सा उन्माद चलता
आज सब तृष्णा खुली जाती किसी की याद आई
आज जीवन में प्रखरतम लालसा उत्तप्त छाई
आज झंझावात घिर आए करीलों के विजन में
आज उल्कापात होते इस तृषा के श्याम घन में
दग्ध उर में नीर बरसाती चली फिर वह हिमानी
जब धधकती आज प्राणों में यही जलती निशानी

है दृगों में खिंच रही विद्युत भरी वह नग्न रेखा
मेघ पागल हो उठे, कैसी प्रलय की रक्त लेखा
आज जोगी की कुटी में फिर किसी की सुधि सुलगती
एक अनियंत्रित तृषा अंधड़ शिखा-सी आज जगती
बस न पूछो रक्त में किसने भरा यह अग्नि-आसव
कौन अङ्गों में लगाता एक आकांक्षा असंभव
एक क्षण की संगिनी फिर आह युग-युग की कहानी
फिर विकल उर की भड़कती उड़ चली जलती निशानी

वासना के गान गाते कवि चला सूनी डगर में
तम घिरे, पर एक ज्वाला दीप्त थी प्रिय के नगर में
आज दुर्दिन में सनम का उड़ रहा सावन सलोना
आज कैसी तृप्ति, कितना है अभी उन्मत्त होना
शून्य मंडल लालसा का आज क्यों विप्लव भरा-सा
क्यों तरंगों की तरी पर जल चला तूफ़ान प्यासा
बढ़ गए सब दीप पथ में क्यों नियति की मूक वाणी
फिर विकल हैं प्राण धूधू-, उड़ चली जलती निशानी

आज प्यासे फिर सुलगते मद-भरी मधु वासना में
आज फिर उद्भ्रांत लोलुप इस ज्वलंत उपासना में
फिर महा व्याकुल अरण्यों के निविड़ तूफ़ान पीते
आज वेदन की पुरी में डोलते विक्षिप्त जीते
प्रज्वलित हैं मरु तृषा से जल रहे मालंच प्रतिपल
यह जलन की मूर्ति धूनी है अमिट कितनी अचंचल
आज यह उद्गार कैसा, कब सजा ऊसर बनानी
फिर विकल हैं प्राण धू-धू, उड़ चली जलती निशानी

लालसा! बस कुछ न पूछो, है प्रबल विस्फोट वाहन
आज किंशुक अग्निमय जलते जलाते फुल्ल यौवन
लुब्ध जीवन-स्रोत में कितने बँधे तूफ़ान फिरते
रूप रजनी में उमंगों की प्रबल आह्वान घिरते
आज पारावार जल चलते सुलगते नील अंबर
एक उत्पीड़न गरल के गर्त में उलझे बवंडर
आज लहराते विकल, पागल बने जो थे गुमानी
फिर धधकती आज प्राणों में यही जलती निशानी

आह ! वह अवनतमुखी लज्जा ललित उन्मादवाली
आज जगमग हो उठी वह रत्न-दीपों की दिवाली
जो छलकती झूमती निर्माल्य की हाला बहाती
जो उमड़ती सिंधु-सी मोती लड़ी-सी टूट जाती
आज ओरे कवि ! वही चिर चंचला नंदनवती-सी
घिर चली चिर स्वप्न की संपत्ति अंतर आरती-सी
और अब क्या ! बुझ सकेगी क्या कभी तृष्णा दिवानी
बस, यहीं अपना विसर्जन और यह जलती निशानी

इन दिगंतों की डगर पर उग्र गंध-प्रवाह बहता
फिर विकल हूँ, कौन बोलो तो क्षितिज के पार रहता
है सुना आदेश मस्ती के वहाँ प्रलया लुटाने
सब चले जाते वहीं अपनी प्रखर तृष्णा सुनाने
मैं यहाँ वंचित, सुना उस पार मधु के कुंभ ढलने
सब बुझाते प्यास, प्यासे बन महासागर निकलने
पर यहाँ तो एक हाहाकार उच्छृंखल जवानी
फिर विकल हैं प्राण, धू-धू उड़ चली जलती निशानी

ओ नैया के खेनेवाले............

फेंको बीच भँवर में तरिणी ओ नैया के खेनेवाले
छाया एक अजब अँधियारा आज अमंगलके मतवाले
इन खामोशीकी बूंदोंमें सुन लो आज प्रलय की आहट
कुछ-कुछ ऐसा ही होता है जलती तरुणाई का मरघट
ऐसी ही सुनसान हिलोरें एकाकी जीवनमें आतीं
चलता ऐसा ही सन्नाटा डगमग होती जीवन बाती
इस बेहोशी के आलम में बोल उमंगों की जय बाबा
आज उचटते सपने की भी माया है तृष्णामय बाबा

एक गुमरते धुँधलेपन से बीत रहे ये मेरे भी दिन
पनपा करते ज्यों मरु अपने जलने लुब्ध बवण्डर गिनगिन
अपने दिल की फुलवारी में नहीं जलन की बेल लगाये
ओ नैयाके खेनेवाले बीच भँवर में तरिणी लाये
आज बुझाकर अपने तारे जाग रही घनघोर उदासी
बह जाने दो नावें अतलमें यह तो लहरोंकी चिरवासी
एक भरोसा तूफानोंका जिनका आंधीसा दम बाबा
सिरजन के चीत्कार लिये जो चट्टानों में चलते बाबा

बांध सकें पछुआकी धड़कन जिसकी छाती की हुंकारें
और न अधरों में फिर लौटें जिसकी झञ्झावात पुकारें
जो सागर की देख रुलाई मत्त अमावस-सा घुल घेरे
पर विष के अम्बार लिये जो नीर भरी पुतली से हेरे
आज उसी चीन्हीं मंजिल के मीत ! पुरानी आग लगाले
फेंकों बीच भंवर में तरिणी ओ दुर्दिन में खेनेवाले
इस वीराने बाग़ी दिल को एक यही कुछ राहत बाबा
यों दुनिया में खिली जवानी कली-कली चटकीली बाबा

झूठे ये सुख-दुख के बन्धन जीवन के उच्छृंखल यात्री
झूठी वह ममता की बन्दिश वह अवशेष स्नेहकी पात्री
धूप-छाँह का रैनबसेरा झूठी उसकी याद सुहानी
झूठे बरबादी के सौदे जिनमें बीती विकल जवानी
उम्र समुन्दर की ऐसे ही नील रवानी में कट जाती
चलती रहती एक कहानी भूख कहाँ कब बुझने आती
युग-युग से हैं याद तपिश का कुछ ऐसा ही दामन बाबा
पाप भयंकर कौन लगेगा ऐसी वहशत से बढ़ बाबा

बीच भंवर में पाल गिराकर ओ नैया के खेनेवाले !
देखो पानी की बुनियादें जहाँ पहुँच जाते मतवाले
लहराया करते लहरों में सपने श्याम मरण के आकर
मस्ती की तालों पर जब उफनाया करता बेसुध अन्तर
चिर विद्रोही मस्तक जिसका बस निज आवर्तोंमें झुकता
दूर निगाहों से नीचे भी अक्षय जिसका स्रोत न रुकता
कुछ क्षणकी यह बात नहीं यह एक जनमकी ज्वाला बाबा
अविनाशी उन्मत्त अकम्पित जीवन की जयमाला बाबा

नीला यह आकाश धरा के विपरीत अपना गान निखारे
नीली लहरों की पगडण्डी बनती मिटती साँझ-सकारे
आज बलायें लेता दुर्दिन मस्त पवन मेरे सन्धानी !
आज भरा है सागर का घर खेनेवाले कैसा पानी !
आज न बिन जाये रह जाता मत्त हुबाबों का आमन्त्रण
फेंको आज प्रलय में नैया खोल शस्य श्यामा के बन्धन
दर्द नहीं बस बेचैनी है जो पत्थर में भी लय बाबा
साथी पाता आज वही दिल बोल तरंगों की जय बाबा

फिर भी भूल न पाता उसको........

मानो क्षण भरमें ही सबकुछ शेष हुआ थी एक कहानी
फिर भी भूल न पाता उसको जैसे कलकी बात पुरानी
याद बहुत आती है उसकी तो पर उम्मीदों से ख़ाली
जब ख़ामोश निशा के तारे भरते एक उमस मतवाली
एक शिथिल अवसन्न उदासी यह जीवन व्यापी अँधियारा
तीखी तीखी प्यास न पूछो कैसी बेचैनी का मारा
दूर चली उस छोर कहाँ वह पीर भरी मेरी सुकुमारी
टूट सुबह के सपने-सी कुछ सोती कुछ जगती दुखियारी

और कहाँ अब आ पहुँचा मैं उठ-उठ कर गिरता इस मगपर
जब चुपचाप चली जाती होगी वह ले जीवन का ऊसर
भूल नहीं फिर भी तो पाता जब ऐसा अँधियारा छाया
रह रह हूक कलेजे उठती किसने सब संसार जलाया
खत्म हुआ क्षण भरमें जैसे एक उचटती सुधिका गाना
कौन किसे मन में रख पाया दुनियाका यह दर्द पुराना
लग जाती बचपन में झपकी सो जाने दो घुलते बादल
किन्तु शराबी यौवन तब तक ले आता तूफ़ान घलाघल
फिर तो आ ही जाता है वह प्यासा बरबादीका दुर्दिन
एक अधूरे सपने-सी छूट जाती प्राणों की चिर संगिन
रह जाता जीवन बन अपनी ही जलती अवशेष निशानी
फिर भी भूल न पाता उसको जैसे कलकी बात पुरानी
जीवनकी कितनी आकांक्षा साध ! न किन्तु कहीं उड़ जाती
चढ़ती भादों की गंगा-सी तृष्णा उरमें ही रह जाती
यह असह्य ज्वाला दिलकी क्यों कविके चीत्कारोंकी वाणी
फिर भी भूल न पाता उसको जैसे कलकी बात पुरानी

सांध्य स्मृति

आज माँझी मैं न बांधूंगा तरी इस तट विजनमें ।

आज तू नौका न ले चल जल जहां अवसन्न बहता
डोलता दक्षिण पवन सूनी कथा उद्भ्रान्त कहता
गूंज कंकण रव जहां की युवतियों का त्रास लाता
सुन न पाता कण्ठ-स्वर व्याकुल सुलग बुझने न आता
रूह मँडराती पिपासित तीर के इस पार रह-रह
था बना बन्दी स्वयं तृष्णा बड़ी मीठी लगी यह
झूमती मोती-लड़ी-सी तारिका आयीं गगन में
फूँक डाली थी चिता उस दिन इसी तट पर विजन में

दूर तक छायी घटा आंसू भरे ये मेघ छाये
नाचतीं किरणें क्षितिज में क्यों प्रियाकी सुधि जगाये
मौन मन्थर डोलतीं जलसिक्त कटि-आनत लजातीं
आज केशर सोत-सी वे ग्राम कन्यायें न आतीं
कृष्ण वेणी और वह हिल-हिल न अब पागल बनाती
चिर कुमारी चिर लली वह अब न जल के पास आती
दूर ले चल भर नजर लख भी न पाऊं भस्म कण मैं
आज मैं नौका न बाँधूंगा यहाँ इस तट विजन में

भूल पाता मैं न मांझी वह कुसुम ऋतु रात उन्मन
जान पड़ती है अरे कलकी कसकती बात प्रतिक्षण
शस्य वासित गीतिका सी सान्ध्य सपने में बिखरती
सो गयी चिर नींद में वह बाल सङ्गिनि हूक भरती
और नीले चीर में लिपटी चितापर जल चली जब
चन्द्र ज्योतित यामिनी में वह अनावृत रूप ले सब
आज जाने हो रहा कैसा विकल मन निशि अटन में
आज मैं नौका न बाँधूंगा यहाँ इस तट विजन में

आज भी करती अवश जो एक व्याकुल रागिनी-सी
बींधती जो वक्ष क्षत-विक्षत सुरा-सी फूट प्यासी
सुख कहाँ अब तो व्यथा मिलती कभी जब याद आती
रक्त से घिरता हृदय उठती उदधि-सी नील छाती
आज तो उच्छ्वास के आवेश बस अवशेष कातर
आज पगध्वनि शून्य सन्ध्यामें चली आतीं निरन्तर
बस इसी तटका अदर्शन एक सुख-सा है जलन में
दूर ले चल मैं न बाधूंगा तरी इस तट विजन में

आज जीवन की सभी भूलें स्मरण कर प्राण रोते
अन्ध चिर अनुराग में सूने विकल दिन-रात होते
शून्य सङ्गीहीन अन्तर फूलता निष्फल तृषा-सा
आज भी जलती चिता के धूम-सी अन्तर्दुराशा
आज जगता ही चलूंगा मैं क्षितिज के पार तत्पर
सो कदाचित ही सकूंगा मैं सुवास अधीर कातर
आज भी कितने शिथिल झरते बकुल नीरव पुलिन में
आज तो नौका न बांधूंगा यहाँ इस तट विजन में

आज क्यों गृहहीन मुझ-सा ही विकल फिरता समीरण
दूर से स्मृतियां बुलाती अर्ध-विस्मृत स्वप्न चेतन
छिप किसी के कृष्ण केशों में न पाता नील अम्बर
उन गुलाबी पदतलों में लुक न खिलते विश्व सागर
झूलने दे आज माँझी मरण अविनाशी प्रबल तम
आज सुनते ही चलें उन्मत्त जल कल्लोल छमछम
इन करों से ही रची थी वह शयन ज्वाला मरण में
आज मांझी मैं न बांधूंगा तरी इस तट विजन में

मन की बात बताऊँ

सूखे होठों में घिर आने वाली मन की बात बताऊँ
पल भर के छोटे सपने में क्या पाकर चिर प्यास बुझाऊँ
पन्थ कहां अनमिल जीवन का प्रलय-पिपासा को मुड़ जाता
यह उन्मत्त लपट तृष्णा की प्यार किए बिन रहा न जाता
किन वनफूलों की चन्द्राहत गन्ध लगी जाती विकराला
ओसभरी किस दुखती चोली की चिनगारी की यह ज्वाला
किस मतवाली के मीठे दुःस्वप्न लगे झञ्झा से गाने
आज सजल पथ पर सतवन्ती कौन चली चीत्कार बिछाने

छूँछी मुसकानों में किसकी उठते आज हविश के बादल
कौन पुजारिन फिर अकुलाती रूपभरी कलशी ले प्रतिपल
बिलखता किसकी अतृप्ति की कुहर म्लान छाया भर लाती
किसकी कजली की तन्मयता उमड़-घुमड़ यों घिरने आती
लेकर जलन भरे तारों की सन्ध्या का अवसाद अचेतन
किस निर्झरणी के आंगन में आया सुधि का पर्व अपावन
जीवन के अवरुद्ध पटों का दीन हताश अतिथि भरमाया
किस अतीत से फिर एकान्त क्षणों में अंकित होने आया
उस रसवन्ती मायाविन को प्यार किए बिन रहा न जाता
मानों जन्म-मरण के भी उस पार चलेगा उसका नाता
दूर क्षितिज के वातायन में प्राणों की वंशी की वाणी
रन्ध्र-रन्ध्र से पूछ रही वह चन्द्र-किरण-रेखा पहचानी
तृषावन्त रोती बयार यदि रोने का अवकाश न पाती
तो मेरी सुनसान सहेली-सी कुछ फूल उमस उफनाती
कोयल के गीले गीतों-सी हूक-भरी पगध्वनि सुन पाता
मन की बात बताऊं फिर तो प्यार किए बिन रहा न जाता

जीवन की दुरन्त तीखी दोपहरी में पल भर कल्याणी
क्या पाकर चिर प्यास बुझाऊं मैं सपनों का चिर सन्धानी
तरुण रुधिर चन्दन-रेखाओं से नित उसकी गैल सजाता
खत्म वहीं हो जाती ममतामयी कहानी मैं मिट जाता
चुप बैठूं भी तो मैं कब तक, गाऊं भी तो कितना गाऊँ
सूखे होठों में घिर आने वाली मन की बात बताऊँ

सावन-भादों

पूरब दिसि से घिरी बदरिया फिर बरसेगी पीर घनेरी
अलख अकूल अतल से निकलेगी तूफ़ानी तृष्णा मेरी
फिर उमंग से उमँग उठे ये बाग़ी साजन बड़े सलोने
यह मेघों का रैनबसेरा आज न देगा जी भर रोने
भूख भरी घड़ियाँ यह, नीले खेतों पर सावन का पानी—
आज परीक्षा में घिर आई कब की मीठी याद पुरानी
उन रतनारी तरल अँखड़ियों में ले एक नमी तुम रानी!
मस्त कहाँ बैठी होगी झपकी-सी प्यास लिये अनजानी—

रूप सजल उन्मन किरणों के आलम में कुछ लिये उदासी
खोई मंजिल के दीपक-सी आज कहाँ जलती हो प्यासी
लुब्ध पवन जनहीन डगर जब, शिथिल वधू किस पार बटोही
आज अयत्न कहाँ से आये इस अशान्त जल में निर्मोही
भीगे बन फूलों में बांधूं किस सुर से यह चंचल क्रन्दन
हास-अश्रु के किस धन को पा सफल करूं यह जलन निवेदन—
आज साँवली गहिरी सन्-सन् रात कहाँ की लिये निशानी
दीन भिखारिन सी कहती है तुम्हें न जाने दूंगी, रानी
आज बावली वर्षा आई खोल तपे अङ्गों के बन्धन
पूरब दिसि से उठी बदरिया आज मरण का लिये निमंत्रण
किसने कागज़ की नैया पर दुर्दिन का अभिशाप लगाया
किसने तिनकों की दुनिया में यह जुनून का पर्व मचाया
आज अजीवन के तट पर यों किसने कवि को फूंका लाकर
किसने यों किशोर गायक की विष से भरी जवानी आकर
झुलसी छाती पर खा-खाकर रक्त पछाड़ें प्रतिपल हिलता
आज प्रलय से प्रीतम जागे कब मुहूर्त्त अन्धड़ में मिलता
अतल वितल से जल प्रसिक्त केशों को ले फिर उठी चितेरी
पूरब दिसि से घिरी बदरिया फिर बरसेगी पीर घनेरी

———

आत्म प्रलय

आज जगी जब जीवन में तृष्णा, गाऊं तो क्या गाऊं
आज प्रलय के सर्ग खुले हैं, मीठे गीत कहां लाऊं
सह्य नहीं चेतनता कैसी अकथ उमंगें आई हैं
लाज भरी वह सूनी चितवन किस घर में अकुलाई हैं
तृषित दिगंतों से जलते किस कुंभ कंठ से उठी पुकार
सूनेपन में आज बुलाया किसने मुझ वंचित का प्यार
कुसुमकुंतला किस लहरीली ने लहराकर सुधि की है
स्वर्ण मक्षिका से अधरों में किसने एक कसक ली है

किन सतृष्णा मधुकरियों ने यह आज विदाई दी विष की
आज मरण मीडों में भी है मुखर बकुल वन की वंशी
आज पापकी ओर उड़ी यह किस सजला की प्यास दुरंत
जन्म जन्म के जीवन में क्या कभी लालसा बुझी ज्वलंत
विपथगामिनी चिनगारी सी आज पिपासा ही अवशेष
किसी अपावन विधुर नीरजा की अंजलियों का यह देश
आज किसी दूरागत संध्या ने फिर मेरा स्वप्न पिया
किस स्वयंबरा ने उफना अमृत सर सा भर लिया हिया
यह आग्रह-आह्वान न पूछो असमय ही उतरा आता
किस अविनाशी गहन मोह में आज रक्त जलने जाता
दूर देशिनी चिर उदासिनी किस अतृप्ति के स्रोत ? चले
आज अगोचर किस मदालसा के अन्तर में प्राण गले
यह असीम निष्फल ज्वाला मैं गाऊं भी तो क्या गाऊं
आज मरण का तीर्थ सलोना कहाँ मधुर स्वर भर पाऊं

अन्तर्गान

कौन हो तुम मर्म में जो आज तृष्णा-सी लगाते !

(१)

कौन आकुल प्राण को करते विकल उन्मन अचेतन
कौन प्यासे-से दृगों में धूम भर जाते अपावन
कौन विस्मृति की घड़ी में शेष करते गान मेरे—
कौन मतवाली हवा में खींचते सावन चितेरे
दूर हो तुम आज कितने मैं सुलगती आज तुम बिन
कौन हो तुम मर्म में जो आज तृष्णा-सी लगाते

(२)

कौन नूतन मेघ-से छलछल उड़े सीमन्तिनी में
आ शिशिर-से भर गए कब शून्य नग्न दिगन्तिनी में
एक लज्जित स्पर्श भी पाया न जब क्यों आज आये
सत्य से कितना अधिक उन्माद सपने में जगाए
मोड़ दूं पतवार चलने दूं प्रलय-पथ पर तरी क्या
कौन हो तुम मर्म में जो आज तृष्णा-सी लगाते

(३)

प्यास से जगती प्रभाती-सी लिए जब शेष जीवन
जन्म-जन्मों की निरति अतृप्ति क्यों चुकता न क्रन्दन
आज-सी विश्राम-हीना लालसा उमडी न तब से
शान्त अन्धड़ में चले ले शून्य आधी रात जब से
और आँखों में नमी ले रह गई एकाकिनी मैं
कौन हो तुम आज अन्तर में प्रलय-सी सुधि जगाते

(४)

हो उठा किस गंध से व्याकुल अचेतन स्वप्न दृग में
बावली-सी घूम जाती गैल बन्धनबद्ध पग में
मुक्त श्रावण जल भिगोता था किसी का गात उन्मन
और बेतस वालिका-सी मैं सिहरती थी सजल तन
आज चिर बिछुड़ी तरी पर दूर का हिल्लोल छाया—
कौन सीमाहीन तृष्णा के सुरों में तुम लजाते

(५)

प्यास क्यों बढ़ती विरह की वक्ष पर जब नील अम्बर
है तरंगों से भरी जलराशि, क्यों अवरुद्ध सागर
चिर कुमारी की तृषा-सी क्यों उठी जल जल पिपासा
आज मीठी वेदना लाई अतल से यह दुराशा
शून्य लक्षावधि हृदय ले जल रहे ऊपर महों से
कौन हो तुम जो विकल गृहहीन उडु-से टूट जाते

(६)

स्वर्ग से आये उतर किस नर्क का लघु पाप लेकर
झूलती जाती नियति मैं सर्वविजयी ताप लेकर,
दीखती बुझती न अमृत से प्रखर यह प्यास प्लावित,
आज मूर्छित हो चला असमय सृजन का सुख अपरिमित
गृह पवन लाया उड़ा फिर आज कुन्तल गन्ध गीता;
कौन हो तुम आज आधी रात तक छुटने न आते ?

(७)

कौन हो तुम मर्म में जो आज तृष्णा-सी लगाते ?

—

भूलना मुझको न प्रियतम !

घोर काली रात थी घहरा उठा था तम गगन में
डोलते थे हहर पीपल-पर्ण तृष्णाकुल पवन में
जल दिगन्तों में रही थी शून्य सन्-सन्-सी उदासी
अब बिछुड़ते हैं विकल दो तृषित हृदयों के निवासी
कह उठी थीं प्राण ! तत्क्षण तुम अकंपित
भूलना मुझको न प्रियतम

भूलना मुझको न प्रियतम आज वह अनुताप कैसा
याद आई फिर वियोगी का प्रबल है पाप कैसा
जल रहे दोनों तृषाकुल कौन किसको दान दे तब
आज दोनों का विसर्जन हैं विफल अरमान ये सब
कब मिलेंगे कौन जाने, किन्तु तब तक—
भूलना मुझको न प्रियतम

पास बैठी थीं लिये चिर शून्य आँधी-सी पिपासा
उड़ प्रखर परिमल रहा था कुन्तलोंसे लालसा-सा
मुक्त केशोंमें शमा-सी जल रही थीं रूप खोले
आज जीवन ज्वारमें कितने निविड़ तूफान बोले
आह ! बासन्ती सजल सन्ध्या सदृश घुल-घुल
तुम्हारा प्राण ! कहना
भूलना मुझको न प्रियतम

भूलना मुझको न प्रियतम हैं यही जीवन मरण में
आर्त कलरव गूँजता-सा प्रति तृषाके संवरण में
भूलना तुमको अरे जब मिट सकी मेरी न छाया
प्राण ! मैंने तो प्रलय तकके लिये यह दाह पाया
मैं वहन करता चलूं पथ भ्रांत होकर भी—
तुम्हारी वह्नि थाती
भूलना मुझको न प्रियतम

अन्तर्गीत

वही पुराना दर्द उठा है हूक किसी की सुधि कर ले

यह वर्षा की रैन अँधेरी नीले काजल की ज्वाला
आज भरा सोने से अम्बर उमड़ी श्याम मेघमाला
व्याकुल चिर रसमयी मोहिनी तुम भीगे कुन्तलवाली
सोच उठा क्या आज वियोगी बड़ी तृषा के दिन आली
वही पुराना स्वप्न नई बूँदों में रिमझिम घिर आया
आज बहुत दिन की बीती ने पी ली एक मरण माया
सूने सङ्गीहीन पवन से आज प्रलय का पथ लेकर
फूँक निधन की अगवानी में चिर चीत्कार भरा अन्तर

आज उसी विष की आहट को श्यामल पुलकों में भर ले
वही पुराना दर्द उठा है हूक किसी की सुधि कर ले
इस बरबादी की मंजिल में बड़ी तपिश का दिन आया
भरी जवानी के आलम में किसने यह दुर्दिन गाया
अरे दूर से मिटनेवाले ! है कितनी तृष्णा प्यारी
इस दारुण अकुलाहट में भी किये सलोनी तैयारी
वह्निपर्व में फिर विस्मरणी ! कितने अग्निदूत आये
असमय सांझ उतर आई किस क्रंदन की आशा छाये
जाने कहां लिये जाती है जीवन की वहशत सूनी
वही पुराना दर्द उठा है मीठा मीठा-सा खूनी
छिटका फिर जुनून ज्वाला से निर्मित अतल-वितल कर ले
दक्षिण पवन चला फिर वन में हूक किसी की सुधि कर ले

पुकार

फिर महा उन्मत्त कर दो ओ मरण की मूर्ति आकर

(१)

फिर विरह-गाथा बजी नीला पड़ा अम्बर पिपासित
दीप्त चंचल छन्द किसके कर रहे ये अंग अवसित
आज झंझानल चले जल जल निकल वंशी भरी सी
फिर पवन प्रतिकूल आया योग रे! लेकर विनाशी
शेष है कितनी तृषा कितना अभी अवशेष जीवन
घोर तम आनत निशा जलता चले कब तक विकल मन

आज प्यासे प्राण अगवानी सजा लें लुब्ध कातर
फिर महा उन्मत्त कर दो ओ मरण की ज्योति आकर

(२)

एक सपने में सतत पागल न जलना आज कैसा
शून्य हाहाकार सागर सा महावरदान प्यासा
एक स्वर-लहरी उड़ी अज्ञात चंचल स्वर लगाये
आज अन्तर की सजल लपटें चलीं अतृप्ति पाये
एक मीठी भूल नादानी चपल आकुल दृगों की
इस मधुर चढ़ती जवानी में अरे यह प्यास जी की
ढल रहे सूने विजन कितनी महातृष्णा लगाकर
फिर महा उन्मत्त कर दो ओ कसक साकार आकर

(३)

मैं पथिक उद्दाम पी डालूँ लगन का पुण्य पावस
यह महासागर जलन का यह प्रलय पुलकित अमावस
पी गया जाने न कितने मैं हलाहलके बवन्डर
प्राण! सह लूँगा तुम्हारा प्रज्वलित अपरूप तत्पर

आज ओ रे मधुव्रती ! फेनिल रुधिर चन्दन लगाये
किस विपथगा के लिए कसमस जुनूनों को जलाये
आज आगमनी बजे प्रति रोम में चितवन सजाकर
फिर महाउन्मत्त कर दो ओ गरल की पीर आकर

भीख

कौन शून्यता दूर करे जो अन्तर में घिरती आती
इतना प्यार भरा घर-घर में किन्तु तृषित मेरी छाती
कौन कहे क्या बेगाने को अपना एक कहानी जब
कौन कहे क्या वीराने को जल-जल उठी जवानी जब
जब घर का सूना-सा आलम हाल हिये का क्या कहिये
बिना पिये तूफ़ान उमड़ता पीकर प्रिये! कहाँ रहिये
जिसकी सुन्दरता से दीपित हो उठते रवि-शशि-तारे—
जिसकी मधुता से नत मधु दिन चलते विकल गन्ध-धारे

जिस स्वरूप-रानी को छूकर हूक सुलगता मलय पवन
जिसकी एक सहज सुधि में तृष्णा से भर जाता जीवन
अरे खोल दो मेरी आँखें जी भर उन्हें निहार सकूँ ?
कितने मस्तों की रूहें मैं उन अधरों पर वार सकूँ ?
बड़ी अचेतनता अलमस्ती महाप्रलय-सी घेर चले
जीवन की सुनसान पिपासा महाअनल-सी आज जले
प्यास न पूछो बिना पिये ही मतवाले मिटना जानें
इस अतृप्ति से भरे विश्व में एक यही सुख पहिचानें
जिसके चंचल द्रुत छन्दों से हैं प्रदीप्त ये अङ्ग विकल
जिसकी तरल शून्य चितवन से हिल-हिल उठता है हियतल
एक स्वप्न-सी आकर चली गई जो मौन ललित कातर
जो सुदूर के सान्ध्य गीत-सी बह जाती जीवन छूकर
आज अतृप्त महासागर-सा विह्वल उसे पुकार सकूँ
आज उदित हो अन्तर पूनों जी भर उसे निहार सकूँ

मुहूर्त

(१)

आज निरंकुश गमन गैल में यही जलन की तो बेला
माना कटि-प्रदेश में गुरुता पर मुहूर्त यह अलबेला
लहरों के आघात प्रवाहित करते ही चलते हमको
और निमंत्रण देता प्रतिपल कौन मरणतल को—तमको
आज खुले कुन्तल लेकर ही चलो प्रलय के गीत कहें
चलो विपथगा के प्यासे हम महाकाल की आँच सहें

(२)

आज माँग में सेन्दुर क्या सखि रुधिर चन्दनों की रेखा
भरी जवानी में यह विष भी बोलो प्राण! गया देखा
आज छेद छाती के पञ्जर फिर असमय आह्वान उड़े!
यही लग्न है जावक का क्या पगतल से ज्वाला उमड़े!
आज सोहागिन! खुली डगर पर 'पी' की मर्म पुकार करो
वही पुराना दर्द उठा है इंगित वह संसार करो

(३)

छैल उठी हैं रक्त कर्वियाँ बेनिशान मंज़िलवाले!
रक्तलिप्त ले पीत पयोधर हैं दिगन्त भी मतवाले
मिटनेवालों की बस्ती में संगिनि! फिर हम हैं आये
बस छूते ही जिन्हें शैलजा भी दुर्गा सी उठ आये
आग लगे घहराती गंगा में वह आगमनी फूँको
है गुमनाम जुनून पिया का जल जल प्यास भरी हूको

(४)

फिर अनिष्ट की नील रागिनी मृत्युवर्णा नवदीप्ति जगे
आज सर्वनाशी गलियों में महाप्राण घनघोर लगे
जाग रहे पक्षी वन वन में दक्षिण जलधि पार रानी!
बोल उठा फिर जीवन घन-सा एक हलाहल का पानी
आज न तुम श्ृँगार सँभालो अर्धनग्न लहरो मग में
आज स्वामिनी का आमंत्रण आज चलें झंझा पग में

(५)

आज महासंघर्ष जगाना है फिर से अपना डेरा
प्राण! न पूँछो कैसी वहशत! सुलग रहा यौवन मेरा
काश न मंज़िल मिल पाई तो तृष्णा का कब अन्त प्रिये!
जब करील भी बोल उठे तो कितनी दूर बसन्त प्रिये!
आज बियावाँ की बुनियादें भी अन्धड़ पर नाज़ करें
घर घर आज चिता जलनी है वह ज्वलन्त दुःस्वप्न भरें

(६)

मस्त छिन्नमस्ता सी तुम भी आज बहो मेरी नारी!
कब तक बालम मुँह मोड़ेंगे हम उन्माद मरणधारी
आज लुटा दे रूप बावली! बड़ी तपिश का दिन आया
घोर युद्ध की प्यास धधकती कितनी मरणमत्त काया
दान-सिन्धु के तृषित कूल पर फिर अतृप्ति आलेष कहाँ
आज निरंकुश गमन गैल में दूर पिया का देश जहाँ

तूफ़ान

उस पार बुलाया अम्बर ने पथ छोड़ ! मुझे जाना होगा

(१)

जब एक भयानक अस्थिरता हो चंचल प्राण किये देती
निःसंग अमावस की रजनी हो दीपों की बलि-सी लेती
जब होठों में निज रक्त लगा बरसातों को पीनेवाले
प्यासों की दुर्दिन-सी गति में बस होती हो अपनी चेती
ख़ुम की ख़ुम मदिरा-सी ढाले अम्बार जलाते श्वासों के
उस पार बुलाया अम्बर ने पथ छोड़ ! मुझे जाना होगा

(२)

क्या बात चलाना मंज़िल की जब सूनी महफ़िल भी छूटी
पथ के चिर भूले राही की कब पल भर तन्मयता टूटी
जब मौन विपथगा की ज्वाला में जलते हों मेरे साथी
जब गायक नायक अभिशापी सबकी हो नींद गई लूटी
तुम चलने का सुख क्या जानो पल भर की आँच सहे तुम तो
उस पार बुलाया अम्बर ने पथ छोड़! मुझे जाना होगा

(३)

खोई झंझा की याद लिये उतरी सन्ध्या सागर तट पर
प्यासे प्राणों की तृष्णा से कब कोई भी सपना बढ़कर
उफ़नाते जीवन की वहशत फिर आज प्रलय-सा भरती है
फिर एकाकी उन्माद लिये मैं जाता सागर को सागर
है वक्त कहाँ सुधि भी कर लूँ मिट्टी में चमन मिले कितने
उस पार बुलाया अम्बर ने पथ छोड़! मुझे जाना होगा

(४)

आजीवन अमृत से न बुझे वह प्यास बड़ी दुर्लभ मरु-सी
ममता की मारी बस्ती में अपनी तो रूह रही प्यासी
भँवरों में याद किया किसने झूठे लगते तट के बंधन
खोलो वातायन खोलो मैं भर आया लपटों का वासी
निःसंग निशा जगते बीती सुख दुःख की छूट चली छाया
उस पार बुलाया अम्बर ने पथ छोड़ ! मुझे जाना होगा

(५)

सर-सब्ज हुए जाते पर्वत मेरी लहरों से टकराकर
फिर लौट न घर को पाते हैं चल पड़ते संगी जो बाहर
झंखाड़ों के हिलते यौवन जल उठते मस्तक में धूधू
किस ओर चला रजनी रहते अकुला अपनी शृँगी भर-भर
असमय आह्वान किसी का हो मीठा ही लगता आया है
उस पार बुलाया अम्बर ने पथ छोड़ ! मुझे जाना होगा

(६)

कब जीवन की बरबादी का चिर सत्य हुआ झंकृत मन में
गृह-द्वार छुड़ानेवाला यह कब राग समाया आ तन में
जो देश न आँखों से देखा क्यों आज उसी को उर रोता
लालायित एक महागति से निर्मित किस निष्ठुर का धन मैं
तम की अविदित ललकारों में मिट जाय मरण-जीवन-रेखा
उस पार बुलाया अम्बर ने पथ छोड़! मुझे जाना होगा

तरुण

फिर लौट चला चीत्कार भरा यों कौन बवंडर सा आकर

(१)

किसकी आकांक्षा एक सतत थी मर मिटने की तैयारी
बरबादी की बुनियाद लिये था कौन गया वह अविचारी
जिसके अभिशापों के यौवन तूफ़ान उठाये देते थे
जो गीत प्रलय के गाता था थी दूर खड़ी जिसकी नारी
एकाकी पर मतवाला था भादों की गङ्गा सा व्याकुल
था एक क़यामत की आहट-सा जिसकी आगमनी का स्वर

(२)

विद्रोही की ललकारों सी थी जिसके प्राणों की धड़कन
अरमान भरी ऊँची चितवन धुँधुआती मरघट में जीवन
जो छाती के झंखाड़ फुला सुलगाया करता चिनगारी
मुट्ठी भर श्वासों में बाहर निकला पड़ता जिसका तनमन
मस्ती के आलम चलते थे बेहोशी का सिंगार किये
थे साथ लगे जिसके अन्धड़ थे साथ लगे जिसके सागर

(३)

था घोर अनिष्टों का वाहक अनजान दुरन्तों का स्वामी
पलकों में मीठा स्वप्न लिये पर मौन मरण का अनुगामी
कोई भी जान न तो पाया कब अपना था बेगाना था
नासूर बनी जिसकी तृष्णा फोड़े थे जिसके गुमनामी
प्रेमी था पागल साधक था पर एक नया संसार लिये
कोई तो दूर बुलाता था जो लौट न पाया फिर जाकर

(४)

कुछ नील नसों के जालों में जब हूक उठाती दोपहरी
जब धू-धू करती थी संध्या कुछ गाती थी रजनी गहरी
उफनाते टूटे तारे जब आह्वान निधन का लाते थे
मेघों के रन्ध्रों में जलजल झाँका करते उसके प्रहरी
था बिद्ध किये देता पंजर-पंजर हुँकारों का जमघट
धूनी सी मस्तक पर जलती विष की वंशी से लुब्ध अधर

(५)

क्या तुमने भी देखा बोलो उस द्रोह भरे मनमाने को
उस नग्न दिगन्तों से औघड़ अल्हड़ अस्थिर दीवाने को
क्यों सत्यानाशी भट्टी में जो ईंधन सा खेला करता
भड़का दे दीप शिखा को जो उस चिर ज्वलन्त परवाने को
फिर उसकी बात करे कोई दुर्योगभरी जिसकी गाथा
जो लौट नहीं पाया घर को वह चिर-अपराधी चिर-सुन्दर

(६)

थर्राती थी जिससे मदिरा था पस्त जमाना ठोकर पर
तल्लीन उमंगों की टोली ज्यों दूर खड़े जलते ऊसर
अतृप्ति अमावस वह कैसी जब ख़ाक जवानी होती ना
वह आँच ? अरे लू-सी न लगे प्रति रोमों में दहती फरफर !
कुछ ऐसी ही सत्ता वाला बेदरदी चढ़ते बादल-सा
फिर लौट चला चीत्कार भरा यों कौन बवंडर सा आकर

भर लो आज महासागर........

भर लो आज महासागर अधरोंमें ओ सपनोंवाली
उफनाती है प्यास न जाने कबसे मेरी मतवाली

यह झपकी-सा मिलना भी तो आज तिमिरका पर्व बने
क्षण भरका यह तीर्थ अपावन कबसे प्राण रुके अपने
मैं! मेरी हस्ती क्या मैं तो दीवाना प्रेमी चंचल
एक तृषा ही पीता आया चिर वंचित लोलुप प्रतिपल
एक सजल मर्मर न सुने वीराना तो फिर वीराना
इस अविदित ज्वाला को मेरी किन्तु तुम्हींने पहचाना

भर लो आज चपल चितवनमें वह तन्मयता का सावन
एक उमंग भरी पग-ध्वनिमें आज प्रलय संगम प्लावन
फिर अधीर अवसादभरे अङ्गोंमें भूली बात भरो
आज कुमारी-सी दो पलको विकल बनो अवदात करो
चिर परिचित नूपुर रवमें कुछ नियति अमंगल तो हर लो
ओ! बाग़ी दिलदार! पिपासित वक्ष अचेतन-सा कर लो
आज गिरें जल भरी बिजलियाँ मरुके चिर सूनेपन में
आज अवश विस्मृतिसे डुलती आ पहुँचो बालापन में

बड़े नाज़से तुम्हें सँजोया पर दीपक जलता रोता
तुम न हुई अपनी जीवनमें जगमें क्या न भला होता
बरस पड़ी सब भूख सुसंचित मेरे चिर कुमार तनमें
आज अपर्णे! जोगी आया बड़ी पिपासा ले मनमें
स्वप्न सखी ओ शैल मल्लिके! आज सजल श्यामल कर दो
गीली निविड़ इन्द्र धनुषी अंजुलियोंमें मूर्छित भर लो
जो न बुझे अमृतसे भी वह प्लावनकारी निर्जनता
आज तृप्त कर दो विस्मरणी! दो प्राणोंकी व्याकुलता

दो श्वासोंका मिलन अमंगल आज कहाँ अवशेष अली!
भर भर अतुल वक्षमें अम्बर करो असह आदेश लली!

अंधड़

गुमनाम वतन का राही मैं मेरा तो दुर्दिन ही संबल
है आज महा यौवन मुझ में साँसों में चिर तृष्णा का बल

(१)

वन-वन में थे झंखाड़ खड़े
पथ रोके जानेवालों का
चढ़ती छाती के जाल जला
सन्देश उठा मतवालों का
जब आज न मधु-ऋतु में मदिरा थे काँप रहे खाली पीपल
गुमनाम वतन का राही मैं मेरा तो दुर्दिन ही संबल

(२)

फिर आज अकारण ही मुझ में
उन्मत्त बगूलों की मस्ती
जब गीत विहंगम भूल चले
चीत्कार भरी तम की बस्ती
जब व्याप्त मुहल्लों में पत्तों के थी बेचैनी की हलचल
गुमनाम वतन का राही मैं मेरा तो दुर्दिन ही संबल

(३)

विष में भी सपनों का रस ले जलते जीवन की धारा में
है अन्ध अमंगल ग्रह मेरा इस दुखते दिल की कारा में
कुछ चलने में ही भूल सकूँ
शायद प्राणों का दाह प्रबल
गुमनाम वतन का राही मैं
मेरा तो दुर्दिन ही सम्बल

(४)

है आज तरंगित पथ खुद ही
जिस पार जहाँ तक जाते दृग
क्या देख बटोही की तृष्णा
उग आते अम्बर के भी पग
एकाकी नीले शैल-शिखर कुछ होही जाते हैं चंचल
गुमनाम वतन का राही मैं मेरा तो दुर्दिन ही संबल

(५)

ये बाँध न मुझको पाते हैं
मेरी ही सत्ता के बादल
यह मीठी ममता की मंज़िल
यह हिलते अरमानों के दल
पर सार्थक ऐसे ही दिन तो जीवन की यह उद्दाम अनल
गुमनाम वतन का राही मैं मेरा तो दुर्दिन ही सम्बल

(६)

व्याकुल सुलगाने को जग के हिम-प्रस्तर प्राणों में मरघट
ज्यों नग्न विपथगा जाती हो ले अग्निकुमारों के जमघट
कुछ उनसे मिलता-जुलता सा
मेरे आवर्तों का मण्डल
गुमनाम वतन का राही मैं
मेरा तो दुर्दिन ही सम्बल

(७)

गति की दोपहरी में साजन ! दूँ बात बता अपने मन की
आ गान जगा जाती ही है वह बीती प्यास तपे तन की
चिर काल न जीवन में जिससे
अमृत का भी पाथेय सबल
गुमनाम वतन का राही मैं
मेरा तो दुर्दिन ही संबल

(८)

जीवन में जो इस पार मिला
उस पार मरण में ले जाकर
अन्तिम रवि-रेखा से अंकित
आरक्त जवानी का सागर
भर दूँगा लहरों से खेवा गुंजित जिनमें अज्ञेय अतल
गुमनाम वतन का राही मैं मेरा तो दुर्दिन ही सम्बल

मुक्ति-पथ

पाल प्रलय श्वासों से फूले नौका मत्त चली जल में
कुछ वैसा ही खेनेवाला बेहोशी के हिमतल में

फिर न अनय होगा जीवन में ऐसा प्राणों में न प्रलय
उठता धुन्ध महासागर से जल जल उठता तृषित हृदय
आज अलख अंचल में बिछने को उतावले चिर चंचल
प्राण धुँआ देते मरघट से, मेरे निर्मोही उज्ज्वल!
किस सुदूर ने आज पुकारा मेरु गीत के स्वर भर भर
शस्यश्यामला आज न रुचती टूट चले बन्धन हर हर

जीवन के शुभ स्पर्श चिह्न तो आज अमंगल ही लाते
कूल-कूल में छिपे मरण क्यों मुक्ति-दूत बनते जाते
कालारूप फटा पड़ता तूफ़ानी लहरों में किस पर
दूर जलधि में वातायन से कौन झाँकती रूप-प्रखर
आज उसी के नूपुर बजते रक्त-तरंगों में झन झन
पाल प्रलय श्वासों से फूले, आज न रुकने का यौवन
उस अनदेखी जलकन्या का असमय मोह उमड़ आया
आज निधन चीत्कार सजाये अपनी बस्ती में लाया

तीखी-तीखी प्यास लगाये देता यह आह्वान कठिन
आज रुकूँ भी तो मैं कैसे, ढूँढ़ रहे मुझको दुर्दिन

पागल अन्तस्तल मेरा............

(१)

फिर तृष्णा की उठी रवानी पागल अन्तस्तल मेरा
फिर चिर जीवन प्यास सुलगती, फिर तूफ़ानोंने घेरा
फिर दक्षिण सागर पीनेको भस्मासुर जीवन जाता
फिर दुरन्त झंझावातों में मैं उमङ्ग भर-भर लाता
एकाकी जीवन यह मेरा रोता विषकी ज्वाला में
आज न पूछो कैसा दुर्दिन विकल पड़ा मतवाला मैं

(२)

घिर आये दुर्वार क्षितिज में रोते रक्तभरे बादल
बुझती प्यास दिखाकर शम्पा उफनाता अम्बर प्रतिपल
आज अमावस पी जानेको चञ्चल प्राणोंकी बाती
सपने-सपनेमें साजनकी जगी सोहागिन-सी थाती
पर हम जलते अङ्गारोंको महावह्नि की पीर कहाँ
जो आवर्तोंमें इतराते—मंज़िल उनसे दूर कहाँ

(३)

जो चाहा, वह भूल रही जो पाया, वही ग़लत पाया
जो न समझ पाया, वह सोचा जो न बुझा पाया गाया
जो न मिली, उसकी आहटमें प्राणोंका सङ्गीत सुना
जीवनके इस पार न जो मिल पाये, ऐसा मीत चुना
दो बूँदोंमें प्यास भुलाई चिर वंचित मधु-घट मेरा
फिर उन्माद लगा अन्धड़-सा पागल अतल-वितल मेरा

(४)

घूम रही तृष्णा मरीचिका-सी क्यों निकल-निकल बाहर
कैसे मरण मीड़में बाँधूँ यह अभिलाषाका सागर
बाहर-भीतर किसे ढूँढ़ता मैं समीर-सा गन्ध पिये
किस अविजानित उत्सुकतामें एक पिपासा अन्ध लिये
क्यों उतावली बंशी-सा स्पर्शाकुल तन-मन भर आता
सजल पवन नीले निकुंजकी भूली बातें कह जाता

(५)

आज फेंक दूँ सब आग्रह प्रतिदान भँवर ने याद किया
महाविकल मैं सब कुछ भूला किस सुधिने उन्माद दिया
अरे, आगका यह दरिया है लहरों-सी जिसकी ज्वाला
डूबी नाव, मुसाफ़िर ! क्यों मँझधार लिये आता हाला
जलन भरी जिसकी ममतामें कौन बसाये वह जीवन
जो प्रवाहका सहे निमन्त्रण उसके हित कैसा चिन्तन

(६)

हिलती वन्या-सी आकाँक्षा रक्तभरे आवेगोंसे
चिर परिचित सुखकी आगमनीमें भी जल उठते प्यासे
तृप्ति नहीं, फिर भी मीठी है बड़ी व्यथा यह मतवाली
मरघट भी भर-भर आते जब दिन ढलते गिरती लाली
ओ, अपरिचिता चिर व्यथिता ओ ! गहन कुंजमें याद न कर
संगिनि ! जीवनकी बाती-सी जलनभरी फ़रियाद न कर

अन्तर्गीत

(१)

कुछ न पाती मैं पिपासित शून्य मंदिर की पुजारिन
मैं उमंगों से भरी सुनसान कितना किन्तु जीवन
मैं तरंगों से घिरी पर है गमन मेरा अपावन
प्राण मेरे देवता की अब न आगमनी मनाते
अब न वे सन्देश तृष्णा के पिया की पीर पाते
आज मंगल घट किसी का फिर हलाहल की पिपासा
रो उठे ये अंक मेरे आह ! नारी की दुराशा
स्पर्श-रसिका मैं किसी के वक्ष की जलती निशानी
कुछ न पाती नग्न ऊसर सी घनों की मैं भिखारिन

(२)

एक मीठी भर नज़र भी तो उन्हें मैं लख न पाती
किन्तु सुधि जिनकी न दो निशि को कभी मैं छोड़ पाती
जो अतल में आ गुलाबी सा लगाते स्वप्न आसव
एक तृष्णा सी उठाते जो प्रलय पथ तक असंभव
देख कर प्यासी निगाहों से जुड़ाती मर्म जिनको
मृत्यु के इस पार भी चिर वन्दिनी रोती निधन को
वेदना के स्रोत जीवन की पिपासा में जलाती
कुछ न पाती मैं पिपासित शून्य मंदिर की पुजारिन

(३)

एक ही संसार मेरा एक निष्फलता दमन की
कौन हो तुम तरुण अंगों में सुरा के स्रोत साकी
सोचती जाने न क्या क्या थी कहाँ की बात चंचल
प्रस्फुटित होता जवानी में हृदय जब थे खिले दल
किन्तु दावानल लगी सुकुमार सुन्दरवन जला जब
रह गई अवशेष वन्या नग्न तृष्णा सी विकल अब
पूर्णिमा धूनी बनी रुकती न जल-कनिका दृगों में
कुछ न पाती मैं पिपासित शून्य मंदिर की पुजारिन

(४)

आज असमय ही उतर आई निशा सुनसान नीरव
क्षुब्ध बन्दी स्वप्न मेरे काटते बन्धन असंभव
याद जब आती उमड़ता है उमस से फूल अन्तर
एक क्रंदन में बँधी पर चिर तृषित मैं प्राण कातर
स्वप्न में भी चूम रँगता नैन मेरे वह चितेरा
आज आधी रात तक जलता चिता सा दीप मेरा
कूल अविदित इस विरह का स्वप्न संगी भी सदय कब
कुछ न पाती मैं पिपासित शून्य मंदिर की पुजारिन

(५)

विश्व सोने से भरा निःसंग पर आती अमावस
एक जुगनू भी न जलता है बड़ा घनघोर पावस
आज का आशीष ऊषा ने हलाहल से निखारा
मृत्यु से भी प्रिय विनाशी जल्पना यह सर्वहारा
हैं कहाँ की ये पुकारें किस गरल की यह पिपासा
यामिनी में जो मिला दिन में कहाँ वह स्वप्न आशा
दूर से सुनती विकल उन्मत्त जीवन ध्वनि किसी की
कुछ न पाती मैं पिपासित शून्य मंदिर की पुजारिन

(६)

आज साथी है कहाँ ? मूर्छित कमल, आलोक रोता
फुल्ल श्रावण मेघ सी छाई तृषा, दिलदार होता
गूँथ छन्दों में न सकती व्यक्त कर सकती न भाषा
बाँध भी सकती न उर में यह प्रलयवाहन पिपासा
नम्र ऊषा से भरी तृण भूमि जी भर भर रुलाले
आज माया में बँधा मन ओ प्रलय से रूपवाले
हूकता पपिहा विजन में फिर उचटती नींद मेरी
कुछ न पाती मैं पिपासित शून्य मंदिर की पुजारिन

अपराजिता

आज मधुपाकुल चपल बनबाल

आज पुलकावृत समीरण कर गया अँग अंग उन्मन
आज शेफाली सुवासित पीतिमा से भर गया वन
आज कलियों पर गया फिर द्राक्षा का नूर धानी
आज केशर की कसक से गति शिथिल झंकृत हिमानी

आज खग कूजित बकुल की डाल

ये प्रखर कुंकुम कलश छलछल बहाते गन्ध गुंजन
आज नूतन कोंपलों से नील अमराई अचेतन
और बेहोशी न पूछो झूमते जड़ भी मदालस
आज दक्षिण का प्रवासी अन्ध परिमल गा उठा रस

रेणु से आरक्त करतल लाल

गीत गुंजित आज पुरवा किस व्यथा से भर गई दृग
नीरजा की नील कुन्तल रश्मियों से दीप्त मधुपथ
आज की कैसी तरंगे आज कैसा स्वप्न अविदित
आज पहली बार सुख से हो उठा अन्तर पिपासित
आज मधुपाकुल चपल बनबाल

गन्धवती

अमलिन वन की रानी

नव मुकुल-मुकुलमें पुञ्ज-पुञ्ज
(तुमने छिपनेकी ठानी)
मैं तुम्हें ढूंढ़ता रानी !

किरणोंके वसन लता गहने
केसरका सरस वर्ण पहने
पल्लव अधरोंपर किस प्रियने
अंकित की मधुकी वाणी

सीरी-सीरी विलसित समीर
विह्वल विलोकती भृंग-भीर
मृदु रभस-विधुर यौवन अधीर
तुम छबि-सी छिपीं हिमानी !

अयि ! लोनी गन्ध विलोल बकुल
अलि-कोकिल-गुञ्जन पुलकाकुल
खोलो मद-घूँघट, भावाकुल—
मैं सुमन शरों-सा मानी



मधुगीत

आज तो मधुमास रे मन

आज फूलों से सुवासित हो उठी तृष्णा विजन की
आज पीले मधुकणों से भर गई छाती पवन की
आज द्राक्षा पर्णिका से उड़ चली मस्ती गगन में
आज पूनों बह चली रस-फुल्ल महुओं के सदन में

आज तो मधुमास रे मन

आज पुरवाई घने वन में चली परिमल भरी-सी
स्वर्ण कलशों में सजल केशर लिये चम्पा परी-सी
और वन तुलसी न पूँछो गन्ध से निर्बन्ध लथपथ
है तृषित उर आज कैसा गीत आकुल सुधि शिथिल श्लथ

आज तो मधुमास रे मन

कनक पुलकों में तरंगित चित्र-लेखा-सी धरा छवि
दूर तक सहकार श्यामल रेणुका से घिर चला कवि
लो! प्रखर सन-सन सुरभि से नागकेशर नूर विह्वल
बज उठी किंकिणि मधुप रव-सी हुई बन-बाल चंचल

आज तो मधुमास रे मन

नील सागर ले उड़ी घन-कुन्तलों में कौन अपने
स्निग्ध नीलाकाश प्राणों में जगाता नील सपने
आज किसके रूप से जल-सिक्त धूसित कामिनी वन
आज संगीहीन मेरे प्राण पुलकित हैं अचेतन

आज मैं मधुमत्त उन्मन

अनमने फागुन दिवस ये हो रहे हैं प्राण कैसे
आज संध्या से प्रथम ही भर चला उर लालसा से
आज आँधी-सा प्रखर आलेष पिक की काकली में
एक अंगूरी पिपासा मुक्त अंगों की गली में

आज तो मधुमास रे मन



पावस-समीर बह चली अली

यह शिथिल गंध गुंजित कोकिल सी
किस मधुपति से गयी छली
किस दरस-परस से विकल-तरल
मधु-निर्झर सी मद-मन्द चली
पावस समीर बह चली अली

फूलों सा गमक उठा यौवन
गाती हैं बालाएँ कजली
तृण-कुञ्ज कुसुम द्रुम-पातों में
कैसी नव प्राण हिलोल अली
पावस-समीर बह चली अली

लो झूम उठी डाली-डाली पर
कानन की किन्नरी कली
लद गयीं प्रमुद पुलकों से विह्वल
मंजरियाँ मधु-गन्ध पली
पावस-समीर बह चली अली

घिर घिर आते रस-चपल मेघ
खुल-खुल पड़ती चपला पगली
चंचल हिंदोल सी डोल-डोल
उठती वल्लरियों की अवली
पावस-समीर बह चली अली

अधखिले मुग्ध अंगों में आलुल
रति-परिरम्भ हिलोर ढली
प्रिय की मद-भरी उमंगों से
मैं खेलूँ व्याकुल मदन-लली
पावस-समीर बह चली अली

पावस-गान

यह सावनकी मद-भरी रात

श्यामल पुलकोंमें लुक-छिपकर उल्लास-भरी बह रही वात
मधु पी-पीकर हो गये मत्त वन-वल्लरियोंके शिथिल गात

सावनकी विह्वल चपल रात

परिमलकी घिरी घटा प्यारी दिशि-दिशिसे उमड़ा सोम पात
चञ्चल हैं रोम-रोम जगके अँग-अँग रति-रससे विकल स्नात

सावनकी प्यासी तृषित रात

नस-नसमें छलक-छलक उठती कैसी तृष्णा मदिरा अज्ञात
किस नव तरंगसे कसक वक्ष कर रहा प्रबल उत्तप्त घात—

यह सावनकी अनमोल रात

इस प्रेरित लोलित रति-गतिमें जब झूम झमकता विसुध गात
गोरी बाहोंमें कस प्रियको कर दूँ चुम्बनसे सुरा स्नात

यह सावनकी मद-भरी रात

पावस-गान

सावनका पावन प्रणय मास
झिम-रिमझिम बरस रहे मेघा वानीरोंके वनमें सलास
मधुकी विनिर्झरी-सी मादक बहती प्रगल्भ अल्हड़ बतास
सावनका पावन प्रणय मास
चपला-सा चमक-चमक उठता दिग्वधुओंका अरविन्द हास
उत्सुक हो प्यार पगी उर्वी जा बैठी गिरिके पास-पास
मनभावन पावन प्रणय मास
वन-वनमें गिरि-बालाओंका नवयौवनका कल-कल हुलास
जिनमें विम्बित होता रसार्द्र पावस परियोंका केशपाश
यौवनका पावन प्रणय मास
ये वल्लरियाँ उच्छ्वसित हरित क्यों फूल-फूल भरतीं उसाँस
क्या जाग उठी इन वाष्पाकुल वन-कन्याओंकी मूक प्यास
पुलकोंका पावन प्रणय मास
सुकुमार सजीले झूलोंके गीतोंमें इन्दीवर विलास
मैकेकी सुधिमें नववियुक्त सखियोंका नूपुर रणित त्रास
सावनका पावन प्रणय मास
इन श्यामल, उज्ज्वल मेघों-सा ही मेरे प्राणोंका प्रवास
सूनी सन्ध्या, वंचित रजनीकी अश्रु विनिर्मित श्वास-श्वास
सावनका पावन प्रणय मास

गीत

देख री! मधु के दिन आये
कुसुम युवतियों के अधरों पर भ्रमर गान छाये
बाल लतायें रस पनघट पर
ले यौवन घट पुलकित अंतर
बिहँस रहीं-नयनों में अलसित मदिर राग भाये
वन देवी की रोमावलि सी
पुलक उठी दूर्वा दल छबि श्री
तुहिन कणों के मिस कितने श्रम सीकर लहराये
मुकुल बाल ने बड़ी साध से
सौरभ चर्चित प्रणय लाज से
सुषमांचल में कनक रेणु से मोती गुँधवाये
देख री! मधु के दिन आये

सान्ध्य-श्री

केसरके सौरभ-दीप जला
खड़ी कुसुम-यूथोंमें री वन उपवनकी सौन्दर्य-कला
तम गुराठनसे छवि मुख खोले
परी-लोकसे हौले-हौले
मृदु समीर गति-अम्बर डोले
यह आयी री ! नव स्वप्नोंकी जगमग रूप ज्योति विमला
अवनीके दूर्वा केशोंमें
वन-श्रीके किशलय वेषोंमें
मधुके मर्मर उन्मेषोंमें
यह संगुम्फित सुषमा भूषण-सी प्रिय चकित मुग्ध नवला
किरण-तन्तुमें जग-शिशुका उर
नयन मुकुल गूंथती, मौन-सुर
मूँद जागरण दिवा कनक उर
निभृत सान्ध्य तारा-सी नभ-जीवनमें दीप रही सरला
केसरके सौरभ-दीप जला

गीत

आयी मलय समीर री
किस सुदूर अज्ञात दिशासे ले भ्रमरोंकी भीर री ?
आई मलय समीर री
अलस शिथिल कुसुमित यौवन तन
मधु शैयापर मुग्ध अचेतन
सिहर पराग कणों-सा उन्मन
बिखर गयी सुषमित अलकोंकी मोती-भरी लरी
रस बूँदोंका मृदु सनेह ले
दीपक बार कुसुम कलियोंके
फैला परिमलका प्रकाश रे
विटपी-बाल खड़ी स्वप्नोंकी मद-सरिताके तीर री
वन देवीके नव अंचल सम
दोल रहा शुचि श्वेत गगन तम
खुला पयोधर युग रवि-शशि सम
पुरुष-प्रकृति जीवन बन कितने ढुलक रहे पय-हीर री !

गीत

यह छलक रही क्यों बावरी
अँखियों की मधुरस गागरी?

किस प्रणय-कूप में आज गई
किस उर-पनघट में नई नई
किस नेह-नीर में भींग गई

इन सजल दृगों की लाज री,

चितवन की बेसुध किरणों में
किसलय के अलसित पर्णों में
सौरभ के मृदु आभरणों में

तुम पिरो रहीं नीहार री

करुणा की भीनी छहरों में
मदिरा की रिम-झिम झहरों में
कविता की नन्हीं लहरों में

बूड़ेगा जग का प्यार री!

———

मुहूर्त

फिर मिलीं तुम आज संगिनि

फिर मिली हो आज प्राणों की सलोनी स्वप्न-छलना
फिर मिली हो आज जीवन की सुसंचित रूप ललना
आज का मिलना, न पूछो, कौन सा उन्माद लाया
आज के सुख की न तुलना, कब न तृष्णा ने मिटाया
आज वेणी-सी खुलीं तुम मुक्त केशिनि, ओ विहंगिनि

(२)

दूर की चिर सहचरी तुम दूर की उन्मादिनी-सी
दूर से अपनत्व लेकर जल-भरी सौदामिनी-सी
आज अन्तर-अंकिनी, जीवन कहाँ से लौट आया
किस निविड़ सुनसान में संगीत का दीपक जलाया
क्षीण मिटते-से अनल में जल तृषित लें बोल रंगिनि

(३)

आज यमुना के पुलिन पर हूकता था पिक पिपासित
फुल्ल पूनों में विजन पीड़ित पिघलते मर्म संचित
पीतिमा चर्चित निविड़ घनघोर खेतों में उदासी
अब न उड़ते थे सुवासित शस्य श्यामल मधु प्रवासी
शून्य अमराई पड़ी थी उड़ गईं थीं ओ विहंगिनि

(४)

आज जीवन की तरंगों ने मधुर वरदान पाया
आज सागर की उमंगों ने प्रलय का पथ सजाया
एक झोंके में उठेंगे आज रो गिरिकूट श्यामल
अब उड़ेलेंगे बिछुड़ती शैलजा पर मर्म बादल
आज पुष्पों से भरेंगे फिर लता के गात रंगिनि

(५)

फिर वही मुस्कान उन्मन मूक आनन पर लजाती
एक बन्धन में बँधी जो सुधि भरी बुझने न आती
मूक उद्वेलन वही आभास होठों पर उजागर
एक धीमी-सी जलन में जो लिये शशि, क्षीरसागर
आज सहसा आ गई तुम ओ विरह की चिर प्रसंगिनि

(६)

आज जी भर देख भी पाता न मैं विरही अपूरित
आज अपने में न रुक पाता विकल मैं सुख निपीड़ित
फिर महा व्याकुल हृदय की प्रीति घर घर में बिखेरूँ
इन मरण-जीवन-तरंगों में जलधि-सी प्यास घेरूँ
किन्तु अक्षय है हृदय का घनघटा सा दाह रंगिनि

(७)

आज आ आ वह मधुर सुख कार्य में व्यवधान होता
आज जितनी ही व्यथा उतना सरस क्यों गान होता
आज कज्जलिनी निशा लाई तिमिर के तीर्थ कितने
जग उठी श्यामा, बकुल झरते, शिथिल अवशेष सपने
चन्द्र संध्या-दीप अंकित कर चला अवसाद संगिनि

(८)

मुस्कुरा कर रह सकोगी दो घड़ी क्या शान्त नारी !
आज उड़ती चितवनों में क्या छिपेगी पीर सारी
पथ विकल अंकित अलक्तक क्या सकेंगे मूँद अन्तर
आज किस भूली व्यथा में रूप यह निःशब्द झरझर
आज किन अवरुद्ध गीतों से उठा तन फूल रंगिनि
फिर मिलीं तुम आज संगिनि

———

पावस-गान

पावस का धूमिल सांध्य गगन
मैं हेर रही उन्मन-उन्मन

हैं अभी बरस कर निकल गए रस-भरे मेघ काले काले
भर रग-रग में उत्सुक मादकता गए कहाँ वे मतवाले

वे हरियाले नव वय वाले
ले गीले मदमाते चुम्बन
ले प्यारे प्यारे रस जल-कन

सुर-धनु-रंजित सौंदर्य्य तरी पर किरणों की पतवार लिए
क्रीड़ा करतीं लोनी परियाँ यौवन का पुलक प्रसार लिए

नव दुर्वह मदन-सँभार लिए
पावस का मधुमय साँध्य गगन
उमड़ा मेरा बाला यौवन
बह रही मधुर मद मंद वात, स्वप्नों का पारावार लिए
है गमक रही कैसी उमंग मस्ती का तरुण उभार लिए
कैसा उन्मत्त प्रहार लिए
पावस का उन्मद सांध्य गगन
मै कसक उठी, कैसा पीड़न
किस परदेशी की सजल लोल सुधि में यह संध्या श्याम परी
किस घन उसाँस से फूल-फूल व्याकुल हो अपने में बिखरी
विधुरा उच्छ्वास–तरंग-भरी
पावस के ये लहरीले क्षण
हम दोनों का सूना जीवन
किस माया के अभिसिंचन से निखरा प्रवेगमय नवयौवन
रसवती बालिका अलबेली मैं सहती हाय मदन-वेदन
आओ मेरे प्रियतम मोहन
फूलों के अंगों में कस घन !
देखूँ पावस का सांध्य गगन

मनुहार

आओ आओ तनिक तुम्हारा मैं शृंगार सजाऊँ !
जीवन ज्वाला में जल जल जब व्यथित तृषित थक जाता
चिर अनिष्ट का संगी अपनी कटुता में उफनाता
भीगा दामन ले सन्ध्या आती कर खग-कुल-चंचल
मौन शिथिल सोचा करता मैं कैसे तुमको पाऊँ
ज्योति जगाती हो अन्तर में सन्ध्या-तारा-चितवन
धुँधली सिहरन में उलझा हो शरद मेघ सा आनन
मुग्ध मधुकरी के गुंजन में पुलकित श्यामा का तन
आज न भरने आता है जी कितनी सुषमा गाऊँ
फूट पड़े फिर रूप तुम्हारा स्वप्न सहचरी छलछल
सजल शर्वरी के छींटों से गन्ध स्निग्ध नीलोज्ज्वल
कुंज शिखर पर शशि-किरणों के जलते माणिक मंडल
कैसे हिय की दीप्त शिखाओं में विद्युत भर लाऊँ
प्यास न सागर से बुझती मैं दो अंजलियों का धन
तुम सुदूर पर पास तुम्हारा क्षुब्ध जलधि सा क्रन्दन
अनबींधे मोमी मोती कुछ शेष पिपासा के कण
फिर भी साध रही जीवन में रूठो तुम्हें मनाऊँ

झलक

मैं नव युग की हलचल लाया
मस्ती लाया, यौवन लाया

मेरा ज्वाला-सा वक्षस्थल
उन्माद भरा उर उच्छृंखल
किसकी मृदु पग-ध्वनि का पागल
मैं दुर्दिन का गायक आया

मैं जोगी साधक तृष्णामय
मेरी आकांक्षा एक प्रलय
घनघोर दुराशा में तन्मय
मैं ध्रुव उडुसा जलने आया

विस्फोट भरी मेरी वाणी
मेरी अन्तर्ध्वनि कल्याणी
यह प्रखर पिपासा का पानी
मैं गीतों में भरने आया

मैं एक महागति का उद्गम
उद्भ्रान्त तृषाओं का संगम
सप्तर्षि पतन सा चिर दुर्दम
मैं रोतों में रोने आया

ये प्राण महासागर वाले
सब मुझको पाकर मतवाले
चैतन्य हुए मरघट वाले
मैं जीवन नव-जीवन लाया

मैं ज्वालामुखी सदृश प्रतिक्षण
चिर मंगल-मय मेरा यौवन
चिर जाग्रत मेरा आत्म-दहन
मैं सबमें मिल जलने आया

प्रभाती

खोल चितवनके ज्योतिर्द्वार, भरो जगमें मधु-सौरभ प्यार

विश्वके शतदलपर अम्लान, किरण केसर-रज भर दो प्राण
पुलक विह्वल नव स्वर्ण बिहान, गा उठे छबिके परिमल गान
मुझे दे दो स्वप्नोंका भार, चन्द्रका रजत-स्पर्श-मद-भार
तुम्हारे निर्झर नूपुर प्राण, उषाका कुंकुम जावक राग
खिल उठी शयन-शिथिल-मुस्कान, दिवाका स्वर्ण-मरन्द-सोहाग
खोल चल नयन मुकुल सुकुमार, छेड़ दो चितवनके मधु तार
बातकी लहर-लहरमें प्राण ! खो गये कितने प्रियतम गान
रूपकी सालस छबिमें प्राण ! प्रणय-चुम्बन वे नखत समान
तुम्हारा नव यौवन-सम्भार, लाजमें लिपटा प्रिय साकार
प्राणके मधुमें घुल-घुल आज, अरे उर खगकी मर्म पुकार
छा रही पुलक कम्पसी प्राण ! अलस दृग-दलमें बारम्बार
खोल चितवनके ज्योतिर्द्वार, भरो जगमें मधु-सौरभ प्यार

किरण

शत-शत चुम्बन-मधु से स्नाता
नवनीत स्निग्ध रस गंधवती चल पुलक लता-सी अज्ञाता
यह दिवा-स्वप्न-सी मदन-धन्य
लज्जा-सी मोहक मृदु अनन्य
शुचि रूप-बेलि-सी चपल वन्य
मद-सुरभि-रभस विधुरातुर-सी आयी ऊषा की सहजाता
नव फुल्ल कुन्द सी शुभ्र परी
उर कम्प विलोलित द्युति-लहरी
प्राणों में अलस मुग्ध उतरी
जग के विस्मय में विकसित प्रिय, जीवन की स्मिति-परिमल प्राता
नव विपुल ज्योति-सा यौवन धन
नभ-सा अनन्त प्रिय अपनापन
दिग्-बाला-सी उज्ज्वल-पावन
सुरधनु सी मुकुलित लोनी छवि की विजनवती मोहन गाता
शत-शत चुम्बन-मधु से स्नाता

प्रभाती

उषाके अलसित नयन खुले
निशा-परीके नखत चुम्बनोंसे मधु मुग्ध धुले
उषाके सस्मित नयन खुले
रजत तुहिनसे ढुलक स्वप्नदल,
मुकुल कंज-कोषोंमें चंचल,
ज्योत्स्नाके फेनोंसे गतपल—
ढूँढ़ रहे कल पवन-गानमें मधु-कण सदृश घुले
लाज-भरी, छबि विस्मित वनश्री
अँगड़ाई लेती यौवन-सी,
पुलक उठी लहरोंमें सरसी;
नव कलियोंके अधर-दलोंपर सौरभ गान ढुले
तुम भी किरण-बाल जागो अयि!
कनक-लतासी, चिर सोहागमयि!
रजनी भर चुम्बन मरन्दमयि!
दो बिखेर जगके प्रांगणमें, उर मद-मन्द डुले

आगतपतिका

जगती है अपलक निशा-बाल

खोले शशिमुख स्नेहार्द्र पुलक ज्योत्स्ना-सी मृदु चितवन रसाल
नीले सुषमांचल में बिखरा तारक-कुसुमों का ऋजु सँभार
यह एकाकिन-सी मौन खड़ी नभ-उर-वातायन खोल प्यार
अल्हड़ समीर-सा उर-कंपन स्वप्नों-सा चंचल भाव-हार
जग की भारानत पलकों पर क्यों डोल रहाहै द्वार-द्वार
रस की उमड़ी स्वर्गंगा में ये नवमेघों — से मधुराधर
किस दीप्त कल्पना से आकुल पागल-से उठते सिहर-सिहर
किसको विलोकती है अपलक सुस्मृति-सी, कर नव सुख-प्रसार
जिसके आलिंगन में विभोर हो जाय शान्ति-सी निराकार

मेरी राधा

आज चलो लूटो तो मधुपो मैं मधुपुंज लुटाता
आज चलो फैलो मधुकरियो मैं सौरभ छितराता
आज चलो वनरानी अगणित नग्न माधुरी भर लो
सरस बसन्तोंका विलोल हिल्लोल भरा यौवन लो
आज चला बिजली नौकापर सागरमें अनजाने
आज चला कवि अपनी राधाके मधुचक्र सजाने
कौन वही जो पटरानी-सी प्रतिक्षण स्वर्ण लुटाती
एकाकी मन-मन्दिरमें प्रतिमा-सी पूजी जाती
क्षुब्ध महासागरमें जो तूफान भरी घिर आती

जो विप्लव-वाहन झंझा-सी प्रतिक्षण प्रलय लगाती
जाने कितनी वन-कन्याओंका यौवन उसपर है
कितनी चपल राज-कन्याओंका लावण्य मुखर है
कितनी सरिताओंका कल-कल परियोंकी पुलकाली
मेघों-सी स्वच्छन्द चपल गति अलका-सी मतवाली
और सुनो तो यही मुझे प्रति पलमें पागल करती
जीवनकी सब तृष्णा ज्वाला ले सहसा उड़ चलती
प्राणोंके आवर्तनमें जो रक्त मुक्त कर जाती
प्रखर पिपासाके मण्डलमें प्रलया-सी बल खाती
उसी जलधि कन्याका आसव नयनोंमें भर आता
उस गिरिजाका नव बसन्त इस मरुमें खोया जाता
उस सौन्दर्य शिखाकी ज्वाला प्राण-दहन-सा करती
सूर्य चन्द्र दो गूँथ पगोंमें रूप-शची छबि भरती
सुधि की नौका नीर भरी पग-ध्वनिसे खेती आती
रूप सिंगार लली दीपककी क्षीण शिखा भड़काती
जिसका पाकर स्पर्श सरस होते करील वन किंशुक

घोल रही है जो वंशी-रव मौन गगनमें लुक-लुक
जिसका दर्शन प्यार बना जो अमृत-सा अमरत्व लिये
जो सौभाग्य लुटाती चलती दक्षिण पवन विमुक्त किये
जो इस सजल शून्यमें चितवनकी दीपक मंजरी बिखेर
एक नया संसार लिये जो रही शरदपूनो-सी हेर
आज उसी वरदान मयी अतुलाकी कवि सुषमा गाता
उसी महाप्रतिमा का चिर निर्माल्य लुटाता मद माता
आज चलो खोलो तो विहगो निज-निज नीड़ोंकी झोली
केशर गन्ध मलयकी मणियाँ आकुल कविने हैं खोली

अंतिम भीख

साँध्य दीप-बेला में फिर से आज तुम्हारे द्वारे
ठुकराया अवहेलित याचक चिरवियुक्त मनमारे—
खड़ा हुआ है हेमवती, मानिनि, ममता की रानी !
शुष्क दग्ध नयनों में तृष्णातुर मधु-दिवा सिरानी
युग-युग की जर्जर झोली में लेकर कितनी आशा
आत्मदाह हुंकृत प्राणों में हिल्लोलित अभिलाषा
दिन-भर घूमा देवि ! तुम्हारे मदप्लावित मग-मग में
भीख एक से दी न गयी इस विपुल निठुर कटु जग में

एकाकी—अशांत—कातर हो भटक-भटक घर-घर में
कितने सकरुण गीत सुनाये दुख-आकुल वासर में
कौन पसीजा हाय—रो उठा मैं उद्भ्रांत भिखारी
संध्या-सी विकसित पावन तुम देख पड़ीं सुकुमारी
तुमने ही तो मुझे बनाया ठुकरा चिरनिर्वासी
तुम्हीं हरो मेरी यह पथ-श्रम-ज्वर आक्रांत उदासी
जाग उठी यह कैसी ज्वाला, सुलग उठा हिय तापी
सान्ध्य-दीपवेला में द्वारे कलप रहा यह पापी
पद-नख-चन्द्रकिरण-छाया में मुझे छिपा उडु गाता
अर्द्धरात्रि के साँय साँय रव-सा समीर मधुस्नाता
गन्ध उशीर किरण-मन्दिर में रूपराशि रति-अर्चन
जब तुम करो प्रभात-ताल में निरत उषा-सी पावन
उसी एक लय में हो जाये मेरा पुलक-विसर्जन
ज्यों अपनी प्रधूम्र-रेखा में दीपशिखा का मीलन

जागरण

जाग उठी जीवन में कैसी मधु की पुलक पुनीत हिलोर
कितना सुन्दर रे यह मधुवन—कितना कलरव हास्यविभोर
जाग उठी मेरे लघु मन में चिर यौवन के वैभव-सी
तम-अभिशप्त प्राण-रजनी में किरणमयी हेमांगिनि श्री
इस जड़ता के स्नायुजाल में धमक उठा कैसा कंपन
महामृत्यु-सी सुप्त धमनियों में लहरा कैसा प्लावन
अवसित महाशून्य में मेरा आत्ममरण दुःसह पीड़न
शापज्वलित पापी प्राणों में जाग उठे मेरे पावन
छवि की रीती शुष्क पँखुरियों में मधु का उद्‌गम कैसा
व्यथा-मूक जर्जर प्राणों में यह उन्मन गुंजन कैसा
वह प्रचंड उन्माद वेदना आज हुई कितनी शीतल
इस अशांत विमथित उर में क्या जाग उठे मेरे उज्ज्वल
कैसी अलख शांति बहती है नीरभरी पल-पल में
कैसा पवन पूत मद फैला है सारे भूतल में
एक बूँद में उमड़ पड़ा सागर का बीचि-विलास सघन
गीत-गंध-रस-विरहित उर में जाग उठे मेरे मोहन

निशान्त

रोती रात चली सपने-सी; शेष न अब तक हुई कहानी
और न चुक क्रन्दन ही पाया—द्रोह भरे जीवनकी वाणी

फिर अंगार प्रलयके साजे चला मिलनका पर्व अपावन
देख सकोगी जुगनूवाली ! मेरी ज्वालाका भूकम्पन

इन विशीर्ण, रूखी अलकोंमें गूँथे इतना बड़ा अमंगल
आज सलिल-मन्थनके रव-सा फाड़ बिछा दोगी क्या हिय-तल

किस अतीतके महाप्रातसे उठ आया यह क्षुब्ध बवंडर
रोती रात चली सपने-सी; खत्म हुआ रोनेका अवसर

बीत चली जय-ध्वनि नक्षत्रों की, ज्यों महाकाश पंजर में
रुकी धमनियाँ जातीं मेरी चीत्कारोंसे भरी डगरमें
यह भी कैसा व्यंग ! मिलें हम लेकर पानी भरी निशानी
और विलग हो जायें अपनी लिये अधूरी कचट-कहानी
लज्जत भरे दर्दकी बातें, काश ! अगर मैं भी कह पाता
सच कह दूँ, मेरे अन्तरमें तो फिर ऐसा नशा न छाता
इस बहते पानी-सी निशिमें बाँध हिचकियोंके तुम बन्धन
आग लगा दोगी क्या चोलीमें ज्वलन्त, ओ हूक भरे तन !
क्या संभव था—कह पाती तुम एक रातमें सारा जीवन
कैसे लेता छीन तुम्हारा नैश - गगन सब अन्तर्वेदन
यदि भिखारिनीका संचित धन अन्तिम क्षणमें लुटने आता
तो फिर अकल्याणकी रानी ! मैं निर्मम भूखा ही जाता
सूजी लाल अँखड़ियोंमें यह जीवन व्यापी तृष्णा—ज्वाला
क्या उड़ेल पातीं दो कुचले सपनोंकी चिर विकृति कराला
इस अपूर्ण मानव-जीवनकी पूर्ण न होने की कुर्बानी
रोती रात चली सपने-सी, शेष न अब तक हुई कहानी

अज्ञाता

कौन मरण सोहागकी तुम रसवती नीहारिका
स्वप्न सुख-दुखके लिए अपुनीत
आँधियोंके लब्ध मरु सङ्गीत

कौन री ! तुम कौन रह-रह रोकती हो प्राण
जैसे युग-युगोंकी यह मधुर पहिचान
कर रहा अर्पित निवेदित सुन्दरी ! चिर शोभना
जीवन्त मैं चिरदग्ध
यह पावक पुलक परिधान
तुम प्रलयके पुण्य जलकी चिरनिशा सञ्चालिका

(२)

किन अदृष्टोंमें खिली तुम रूपसी शेफालिका
विकल आधी रातकी मेहमान
इन सितारोंकी सदा-सी मुखर पर अनजान
नील अम्बर ले गया कितने दृगोंकी प्यास
सो गयीं अपने दिलोंसे लिपट सुधिकी साँस
सृष्टि सारी मौन
आज चितवनके घनोंमें बाँधती तुम कौन
बोलो कौन
अन्ध सपना स्वर्गका मैं देखता होती सुवासित रात
और पुरवाई सदृश तुम आ जगातीं नाद अन्तरका
कसकते मर्मके आघात
दूर झञ्झावातकी ज्यों विकल विद्युत् बालिका

(३)

अज्वलित सत्ता अचेतन बस तुम्हारी ही पुलक
अनुगामिनी

आह ! चिर स्निग्धा घड़ी जब सीख डाला यों सुलगना
स्पर्श आकांक्षा लगाये किस नशेमें चूर सारी रात जगना
सोचता तुम कौन किस मणि-द्वीपमें अलि है तुम्हारा गेह
दूर कितने दीप आते हैं तुम्हारी ही शरण खो दग्ध
उरके स्नेह

खोले मुक्त नीरव निज तृषाके लुब्ध पारावार
किन्तु जिनके भस्म होते ही गगनमें
बोल उठते नवकिरणके तार

वे स्वर गन्धके संसार
यों ही बीत जाती रात

और डूबे चाँदकी फीकी शिरायें झिलमिलातीं पीत
कम्पित गात
सोचता यह बात
तृप्त भी होते न दृग अवसाद तृष्णा स्नात
कौन हो तुम श्रान्त निद्राहीन उडुओंके विरहकी
स्वामिनी

(४)

देय कितना इन पगोंमें स्वप्न जागृति सङ्गिनी
आज कैसा कर रहा मन
ये शमा-से युग चरण
जैसे चढ़ा दूँ प्राणके उद्गार
विप्लव वाहिनी चिर साधनाके ये सतत आधार
प्रणयी मुग्ध मनके छन्द

आज शब्दोंके उधर उस पार अवसित कर सकूँगा
क्या प्रलयके स्पन्द

ओ लीलाङ्गिनी ! बोलो मरणके इन्दु
वन कपोतोंसे विकल चञ्चल अरे जब रक्तके प्रतिबिन्दु
हर्ष वेदन मरण जीवन अश्रु मन्थनमें जगे अम्लान
कुसुमित भैरवी, उगती प्रभाती सा लिये सन्धान
दीप्त मुखरित हो निखिलमें एक निरुपम
चेतना नव रङ्गिनी

अन्तर्गान

(१)

एक इङ्गित भी तुम्हारा जब प्रलयकी बात कहता
शेष हो जाती रवानी आँधियोंके अञ्जुमनमें
आग लग जाती इन्हीं मृदु तारिकाओंके बदनमें
एक उठती आँचमें धू-धू सुलग उठते तलातल
प्यास जीवनकी उमड़ती खून चल जाता गगनमें
और बुनियादें बियाबांकी हिलाता एक ही तूफ़ान रहता
बिजलियोंकी बादली बन्शी सुनाते किस अमावसका
महाआशीष बहता
एक इङ्गित भी तुम्हारा जब प्रलय की बात कहता

(२)

प्यास युगकी बिद्ध करता तब तुम्हारा ही अदर्शन
लुब्ध अकुलाते बँधे उन्माद खुलनेको कहीं जब
ये बवण्डरके हिंडोले शून्य ही जलते विकल जब
जब मरणकी ज्वालमें भी भैरवी सुर जग न पाते
गीत यौवनके न खूनी चिह्न भर पाते प्रखर जब
जन्म-जन्मोंकी महातृष्णा धधकती किन्तु रहता मूक जीवन
दग्ध छातीमें तृषित पर एक जुम्बिश भी न जब लेते अचेतन
प्यास युगकी बिद्ध करता तब तुम्हारा ही अदर्शन

(३)

एक सपना भी तुम्हारा जब मलय मनुहार लाता
डोलती हो रैन अस्थिर शशि-किरण कहती कहानी
दूर हरियाले वनोंमें फूट छा जाती जवानी
अन्ध हो जाता समीरण चैतकी चिनगारियोंमें
एक कुचली आरजू-सी भींगती शबनम उफानी
मेघ रन्ध्रोंसे चली आती निकलती कौन आँधी-सी किरण-
आलेष स्नाता
और हो उठता तरङ्गित किस प्रखर गतिका महासङ्गीत
उल्का-सा महासागर जगाता
एक सपना भी तुम्हारा जब मलय मनुहार लाता

(४)

एक दीपक भी तुम्हारा जब मरणसे मुक्ति पाता
क्षुब्ध नीलाकाशकी चंचल रुलाई शान्ति भरती
एक व्याकुलता विरहमें विश्व यों पागल न करती
सुधि न प्राणोंमें किसीकी जागती रहती निरन्तर
सब्ज़ होकर स्नेहसे तम काँपता धरती उमड़ती
धूल धूसित बीन कितनी मौन, नीरव स्वप्नसे जगतीं अज्ञाता
किस अयाचित स्पर्शके आघातसे उन्मत्त हो जातीं सुजाता
एक दीपक भी तुम्हारा जब मरणसे मुक्ति पाता

(५)

बाँध पाते जब न तुमको बन्दिनीके शेष बन्धन
गूँज नीरव व्योममें उठती महाजयध्वनि तुम्हारी
उच्छ्वसित पाषाण होते मूक बन जाते पुजारी
दूरके अज्ञात कितने स्वर उभरते बाँसुरीमें
बीतने आते न व्याकुल क्षण अलख पथके भिखारी
श्रुत अश्रुत भी गीत जितने प्रतिध्वनित करते तुम्हारा
आगमन उल्लास-उन्मन
विश्व मर्माहत सुना करता तुम्हारी यामिनीका दुख-भरा
क्रन्दन चिरन्तन
बाँध पाते जब न तुमको बन्दिनीके शेष बन्धन

(६)

एक अंजलि सूतका शृङ्गार जब बनती मिलनमें
क्लान्त सन्ध्या विस्मरणकी फेंकती व्यवधान संचित
तुच्छ जीवन मृत्युके उत्थान पतनोंसे प्रवंचित
एक अमृत गन्धसे कुसुमित अचेतन रक्त होता
मूक जलते मर्ममें होते मुखर ये प्राण किंचित
और शत-शत कुमुदियोंकी प्यास तब साकार हो उठती
अकेली शशि-किरणमें
एक लघु अविदित पुलकमें लीन हो जाता निखिल असमय
सुपावनके वरणमें
एक अंजलि सूतका शृङ्गार जब बनती मिलनमें

जगने पर........

कुछ रात गये कुछ रात रहे जब सहसा नींद उचट जाती

(१)

तम की काली छलनाओं में झिलमिल करते नभ के तारे
फिर पीपल, बरगद के तरु भी हुंकृत करते अपने नारे
चेतन अस्थिर की कौन कहे जब पाषाणों में भी धड़कन
अपने प्राणों के क्रन्दन में खामोश पड़े भूले चिन्तन
दिन भर का नीरस श्रमजीवी मैं कार्य-भार से थक सोया
यों जीवन-ज्वाला में अकुला कुछ बार दिवा में भी रोया
कुछ जान न पाता कैसे तुम नज़दीक तृषित के आ जातीं
कुछ रात गये, कुछ रात रहे, जब सहसा नींद उचट जाती

(२)

कुछ सूखी, कुछ गीली पलकें, अवशेष यही तो हरियाली
ऐसे ही दूर प्रतीची में कुछ दिन ढलते भीगी लाली
पर देय कहाँ एकाकी को यह एक अचीन्हा सुख विस्मय
नव-ऋतु-सी आते-आते ही तुम सहसा बन जातीं संशय
तुम में भी तो चीत्कार भरा तुम भी तो हो तीखी नारी
क्यों सजनी रजनी के उर में तुम बोने आयीं चिनगारी
मुझको क्या मेरी तो कब से ऐसी ही बिद्ध रही छाती
कुछ रात गये, कुछ रात रहे, जब सहसा नींद उचट जाती

(३)

मैं बन्दी चिर-व्याकुल हूँ मैं बस चीख सिहर उठता उस क्षण
आँखों के रूखे मेघ उमड़ करते अभिलाषा का तर्पण
मुरझाये फूलों में मेरे कोकिल का कण्ठ खुला जाता
बीते दिवसों का अपराधी मैं कितनी प्यास जगा लाता
ऐसे ही एक दिवस जग में देखूँगा बीत गया जीवन
कुछ पास लड़कपन की भूलें—कुछ पास जवानी का क्रन्दन
पर पा न सका जो शेष वही, प्राणों का धन, उर की थाती
कुछ रात गये, कुछ रात रहे, जब सहसा नींद उचट जाती

(४)

सम्मुख शेफाली के नीचे फूलों से भर जाती धरती
शशि-किरणें चूम चली जातीं कुछ हँसती, कुछ आहें भरती
चिर-तृप्ति कहाँ? कहता जैसे सन-सन रव में उन्मत्त पवन
चीत्कार कपोतों का वन में झंकृत करता रजनी निर्जन
क्षण भर की ममता से वंचित मैं देख चुका मानव का मन
दुर्योगभरी रातों में जब असमय होता संघर्ष पतन
जब अपनी मूक तृषित सत्ता अपने क्रन्दन से भय खाती
कुछ रात गये, कुछ रात रहे, जब सहसा नींद उचट जाती

(५)

युग-युग से दग्ध रहे परिचित विद्रोही प्राण अभावों से
कब तृप्ति इन्हें मिलने पाई सूने अन्तर के घावों से
सुख और इन्हें क्या झपकी में यदि कोई पास तनिक आये
जीवित क़ब्रों की जड़ता में मीठी-सी आँच उठा जाये
फिर जागृति दर्द नया कर दे मैंने इसको सुख ही माना
अन्तर्ज्वाला से प्यार बहा जब पीर उठी सूझा गाना
कुछ दिन बीते क्षण भर योहीं प्रेमी को राहत हो जाती
कुछ रात गये, कुछ रात रहे, जब सहसा नींद उचट जाती

(६)

जीवन का यह मस्ती का पल अमरत्व अगर बन कर आता
क्यों होता मेरा कण्ठ मधुर क्यों मैं इतना मीठा गाता
संतप्त पुकारों में मेरी कैसे संगीत मुखर होता
यदि एक मनोरम सपने में रह जाता सारी निशि सोता
चिर तृष्णा में प्यासे रहना मानवता का सन्देश यहाँ
अपनी सुलगाई ज्वाला में आजीवन जलना शेष यहाँ
इस आकांक्षा के ऊसर में तुम कैसे पास चली आतीं
कुछ रात गये, कुछ रात रहे जब सहसा नींद उचट जाती

यदि........

यदि जगा पाता इन्हीं जीवन तरंगोंपर
तुम्हारे गीत साजन !

टूट जाते मोह-बन्धन रातके ये स्वप्न सारे
मूर्ति घिर आती तुम्हारी फिर नयन-जल के किनारे
ये किरण निर्झर चरण गति स्पर्शसे बजते जिगरमें
साध ही लेता तुम्हारी मैं मरण वीणा अधरमें
व्याप्त चारों ओर जो यह मर्मके पथमें विरह-सा
काँप उठता एक सुखसे यह अमाका पर्व
काले मेघ-सा अवसाद साजन !

ये शिशिरसे स्निग्ध कितने स्नेहसे हो सब्ज़ आते
  किस अतलकी वार्ता अवशेष किरणोंमें सजाते
किन्तु भाषाहीन अकथित चीख उठती मर्म वाणी
  काश ! पलभर भूल पाता उन प्रभातोंकी कहानी
जब तुम्हारे द्वारपर मैं रिक्तकर घूमा निरंतर
  शून्य मन विव्हल उमंगोंमें लिये किस चेतनाका
        उग्र हाहाकार साजन !

जन्म-जन्मोंसे सुपरिचित आज पर कितना विवश मैं
  आज नीरव ही पिपासा दग्ध अन्तरकी उमसमें
यह महाविद्रोह यह आरक्त करवी-सा समर्पण
  खींच पाया कब किसीकी साँसका निर्माल्य दो कण
लीन होगी किन्तु असफलता किसी दिन साधनामें
  यदि जगा पाया इन्हीं जीवन तरंगोंपर तुम्हारे
        गान साजन !

यदि जगा पाता इन्हीं जीवन तरंगोंपर तुम्हारा
स्वप्न साजन !
यदि सुना पाता किसीके टूटते दिलकी सदायें
एक उगती जिंदगीकी ये मरणवाहन निशायें
प्राणके अन्तस्तलीकी खोल पाता यदि अमावस
पी अगर पाता तृषाओंके प्रलय, जीवन्त पावस
सीख लेता यदि उभरती आरज़ू अपनी निदारुण
बुझ न पाती फिर कभी मेरी लगाई
चाँदनी-सी आग साजन !

हँस सकें ये ज़ख्म मेरे दर्दका वह दौर आये
निशि सोहागिनि हो उठे मेरी शमा शबनम बहाये
जब खिज़ा आये चमनमें बाँधती बीती बहारें
रुक न पायें लुब्ध मेरे मूक स्वारोंकी पुकारें
बैन व्याकुल अन्तरोंके हो न यदि पाये मुखर भी

सत्य कह दूँ शून्य हाँ चिर शून्य ही रह जायगा
यह विश्व निर्धन
मानता हूँ इस विजनमें रैन भरका यह बसेरा
विष बरसता ही मिला कब कब उमंगोंने न घेरा
आज फूलों के महलमें कौनसा अरमान लाऊँ
कौन संचित रह सकीं जो प्राणकी निधियाँ लुटाऊँ
रात भर जलती रहे मेरी शिखा प्रर्याप्त इतना
कम यही क्या व्याप्त जीवनमें रहे यह
दाहका विद्रूप क्रन्दन
यदि जगा पाता इन्हीं जीवन तरंगोंपर
तुम्हारे गीत साजन

उच्छ्वास

(१)

मैं हूँ वही अरे मैं तो हूँ वही विकल उदभ्रान्त
मिली धूलमें जिसकी हस्ती तृष्णासे आक्रान्त
लिये अकम्पित शून्य डगरमें पलकोंका संगीत
जले अपरिचित सदा तृप्तिसे जो प्यासा अपुनीत

(२)

जो पतझड़की दग्ध निशा-सा घुल-घुल गलता मूक
हैं प्रज्ज्वलित उमंगें जिसकी महा वन्हि-सी हूक
इस बन्धन क्रन्दनमें सीमित जिसकी एक पुकार
तृषित महा उन्मत्त जलधि-सा करता हाहाकार

(३)

ज्वालामें दिन-रात लहकते रहते जिसके प्राण
एक बवंडर महाकालसे जिसके दुर्दम गान
आज न पूँछो पहुँचूँगा किस पार अचेतन भग्न
आज हलाहल उमड़ चला है बड़ी सलोनी लग्न

(४)

जीवनकी चिर भीख किसीको भूल न करना प्यार
जीवनकी चिर सीख किसीपर मत होना बलिहार
सदा रहे यह प्यास अरे यह तृष्णा ही आहार
कनक रेणुका रानी ! फिर भी भूल न करना प्यार

(५)

यह सन्देश पिपासाका यह उरकी प्रबल पुकार
यही किसी वीराने दिलकी नीर भरी मनुहार
कितने मधुपोंके जीवनका सत्य उठा है बोल
युग-युगकी अतृप्ति क्षुधा जब रही प्रलय-सी डोल

(६)

मैं बचपनसे पीता आया आकुल चिर उत्तप्त
किन्तु नशा पर्याप्त न अबतक हुआ कभी उन्मत्त
आज महानल-सी जागी तृष्णा मेरी अवसन्न
आज अचेतनता मत पूँछो अन्तहीन मैं भग्न

(७)

एक दर्दकी दीप्ति यहीं तो मानव जीवन मौन
एक स्वप्न यौवन ले आया किन्तु खो गया कौन
अरे मौन हैं यही अतलके अगणित उल्कापात
नित काले काजलसे उड़ने वाले झंझाबात

(८)

यह निखरा अन्दाज न पूछो मदिराका आवास
रूप रस भरी वाणी जिसमें जल-जल उठती प्यास
अरे खोल दो ये ज़ुल्फें रूहों की लहरें बाल !
यह सुकुमार तरंगोंकी मस्तीका प्रखर गुलाल

प्राणोंमें एक पुकार लिये हम दोनों जलते तृषित हृदय

(१)

हम दोनों दग्ध तृषातुर हैं दोनोंकी ज्वाला अमित अमित
मैं चिर वंचित तू चिर प्यासी हम दोनों ही जलते ज्योतित
हम दोनों मादक वय वाले, पर तुझमें तप्त अधिक यौवन
है तुझमें कुछ ज्यादा मधुता, पर मुझमें आह अधिक दंशन
ज्योंही मैंने सरबस खोया तू भी घिर आयी तृष्णामय
विच्छेद कहाँ कब था हममें तू आकुल मैं उन्मत्त हृदय

(२)

चिर काल रहे हैं हम जीवित इन अग्नि-स्फुलिंगोंमें जलते
कितने यौवन हमने झेले इस एक पिपासामें पलते
यह कैसा अग्नि भरा परिचय दोनोंने हाहाकार किया
दोनोंकी दुस्तर साध रही दोनोंने आत्म-विनाश किया
तेरा मेरा अवसाद पुंज नित नित नूतन हो रहा अजय
चिर मुक्त चिरन्तन-सा नाता तू मतवाली मैं तृषित हृदय

(३)

इन काल तरंगोंमें पड़ कर कितने शर्वरी स्वप्न टूटे
इस क्षुब्ध महासागरने कितने ज्योति मुखर उडुगन लूटे
इन मधुकालोंने आ आ कितने मधुपोंको उन्माद दिया
कितनी कलियोंने प्रथम प्रथम उच्छल हो एक विषाद पिया
एक पुष्प भी शेष रहा तबतक विहगोंको था संशय
तू कोकिल-सी कातर आकुल मैं प्रखर प्रलय-सा मृत्युंजय

(४)

फिर जगमें किसको तृप्ति मिली किसने अपनी तृष्णा खोई
उर-दाह बुझा किस मानवका किसकी कबतक पीड़ा सोई
जब मेघ लुटा जाता जीवन शम्पा तब खोल जलाती उर
दोनों मिटते मिट-मिट बनते फिर मिटनेको होते आतुर
किसकी कब अग्नि शिखा शीतल होती किसका निभता विस्मय
तू झंझा-सी उड़ती चलती मेरी भी यह धूनी अक्षय

(५)

है याद नहीं हमने कबकब जीवनकी सब तृष्णा खोली
किसके पानेको ज्वालागिरिने बोली प्राणोंकी बोली
कब जाने कितने प्रखर बसन्तोंकी विद्युत धारा डोली
कब कितने उल्कापात हुए तू कबतक आह रही भोली
पर मैंने तो पीछे जाना तू भी है आत्मदहन तन्मय
तबसे यह अन्तरका नाता तू चिर अतृप्त मैं तृषित हृदय

(६)

क्या जिसमें जितने प्राण विपुल उसकी उतनी ही प्यास प्रखर
जिसमें है जितना आत्म-पतन वह उतना ही उन्मुक्त मुखर
हो तीव्र वासना जितनी उतनी ही क्या तन्मयता होती
जिसमें जितना ही अपनापन उसकी उतनी ममता रोती
पर तोड़ चले जो बन्ध शृंखला वे क्यों हैं अतृप्त अतिशय
क्यों एक लालसासे उत्पीड़ित पगलोंका अभिशप्त हृदय

(७)

इस जन्म मृत्युके वारिधिका कब किसने अन्तस्तल देखा
इन लक्ष-लक्ष नक्षत्रोंका कब किसने अतल वितल देखा
किसने क्षितिजोंको चीर विपुलताकी विद्युत सीमा देखी
किसने नगपतिका उर मथकर वह नग्न अतृप्ति कचट देखी
कितने हेमन्त गये आये तमके याली से अन्ध अभय
पर कब प्यासोंकी प्यास बुझी कब यह अतृप्तिका मिटा अनय

(८)

जब एक अपूर्व विकलतासे फेनायित होता है सागर
जब एक विलोड़न क्रन्दनसे विप्लावित रजनीका अन्तर
जब तीक्ष्ण शराघातोंसे तरु-सा नीरव यह अम्बर रोता
जब गहन वेदनासे पीड़ित सन् सन् सन् अरण्य होता
तब व्याकुलताके गीतोंसे हम होते अन्धकारमें लय
प्राणोंमें एक पुकार लिये हम जलते अवश पिपासामय

मुझको भूल चलीं तुम

आज धड़क उठता है हिय-तल किस पीड़न से प्रतिपल
आज न जाने किस ज्वाला से उठता हूँ मैं जल-जल
आज धड़क उठती है धक्-धक् वल्लरियों की छाती
हलकी-हलकी, मलय पवन विस्मरण रागिनी गाती
कितना प्रखर प्रवाह यहाँ है कितना कलरव रानी!
भूल चलीं तुम मुझको कैसी माया यह तूफ़ानी
किन्तु न पूछो इस जग में कब कौन न किसको भूला
एक भुलाता ही रह जाता जब चिर सुधि का भूला

तुम्हीं मुझे फिर भूल चलोगी था मैं उस क्षण बोला
जब उत्पीड़न की राका में आकुल अन्तर खोला
आज वही आँखों ने देखा प्राणों ने पहिचाना
आज वही दुनियाँ को अवगत सब ने उसको जाना
आज वही मैंने भरपाया जो मुझको पाना था
आह मुझे तो उसी प्रबल तृष्णा में जल जाना था
अपनी सखियों से तुम मुझको एक कथा सी कहतीं
सुन कर नाम सोच कुछ मुस्कातीं सी उन्मन रहतीं
सजल मोह के विस्मय सा मैं कभी कसकता तुम में
कभी प्रखर हो उठता था मैं बिंदिया के कुंकुम में
वह तो बालापन था कह दो, सपना था झपकी थी
एक खिलौना था दुर्बल सा अल्हड़ थी पगली थी
वह भी कुछ था ? ममता की नन्हीं-नन्हीं लहरें थीं
क्रीड़ा कौतूहल उत्सुकता की रिम-झिम झहरें थीं
एक दबी सी हलकी सी मुस्कान अधर का कम्पन
क्षण भर का उल्लास यही था पागल पलकों का धन

आज न पूछो एकाकी से कितनी दूर अली ! तुम
आज यही हड़कम्प धमकता—मुझको भूल चलीं तुम
किन्तु समय भी है अनन्त उच्छृंखल-सा उद्दम-सा
कितना बड़ा विश्व है कितना पी पी अब भी प्यासा
कितने मधु दिन आए होंगे तुम तक मुझे भुलाने
कितनी मोती की बरसातें कनक मेघ अनजाने
कितने दक्षिण अनल फुल्ल द्राक्षा वन में हो डोले
धानी मंजरियों में कितने शरद विकल हो बोले
कितने सावन उड़ते आये मुझको भूल चलीं जब
प्रणयाकुल हो डोल उमड़ती प्यास वही पगली अब
कितने उल्कापात हुए तब मैं प्राणों से टूटा
कितने झंझावात नियति ने खो यह दीपक लूटा
आज मुझे तुम भूल चली हो कसक-कसक में मर्मर
काँप रहा हिल्लोलित जीवन क्षुब्ध जलधि सा थरथर
आज यहाँ आकुल अन्तस्तल प्रलय विसर्जन तल सा
ले अगणित तूफान उमड़ता बिन्दु-बिन्दु उर प्यासा

तरस उठे ये सूने लोचन उसी नीर से रोते
एक इसी उजड़े गृह में शतशत भूकम्पन होते
प्राणों की पुष्पाकुल मादक मधुता आज सुलगती
यह जीवन की मन्द मन्द गति कैसी दुर्वह लगती
अब न रुकेंगे पीड़ित प्यासे प्राण सुदूर अली तुम
कैसी बन्धन की ममता जब मुझको भूल चलीं तुम

एकाकी जीवन

मेरा एकाकी जीवन
सूना एकाकी जीवन

निर्झर-से झरते सजल नयन
इनमें नित बसता है सावन
रीता न रहे उर का आँगन
ये उमड़-उमड़ पड़ते प्रतिक्षण

ये उमड़-घुमड़ नित घिर आते
रोते एकाकी दुलराते

मेरी कसकों की फुलवारी
करुणा से सींच-सींच जाते

मेरे नयनों की तरल धार
यह मेरे जीवन का श्रृँगार
दुखिया नयनों का सजल प्यार
यह दुख-सुख की आकुल पुकार

मुझको कब किसने किया प्यार
खोला उर-पुर का सुखद द्वार
जग की प्रताड़ना दुःख-सँभार
ढोता मैं एकाकी अपार

मेरे जीवन का क्षण-प्रतिक्षण
ठुकराया अवहेलित अगुगण
कुछ स्नेह-नीर की बूँदों हित
प्यासा मेरे उर का कण-कण

मैंने सब जग सूना पाया
मुझको न किसी ने अपनाया

कहते हैं—सुख है, सुख से ही
परिपूरित विश्व-नीड़-छाया

पर हृदय हाय है तृप्तिहीन
सुख से विहीन—दुख में प्रलीन
उल्लास, ललक, मधुमास आश
वंचित, दीपक-सा स्नेहहीन

जीवन की सूनी वेला में
अपनेपन की अवहेला में
पागल-सा घूम रहा हूँ प्रिय!
खो निज प्रकाश का मेला मैं

जिसको मैं निज उर में धारूँ
जीवन हारूँ—सरबस वारूँ
सौरभ के—रस के मोहन को
मृदु कुसुम-सदृश मैं मनुहारूँ

वह शूल सदृश मम हृदय छेद
मेरा कोमल उर बेध-बेध

उफ़ ! कैसा निठुर विधान अरे !
घायल कर दे व्रण को कुरेद

तुमको सुख है ठुकराने में
मुझको ठुकराये जाने में
रोने में, अश्रु कणों-सी इस
पीड़ा से प्यार बहाने में

आओ प्रिय ! तुम भी ठुकरा दो
पीड़ा में बेचैनी ला दो
इस जलते करुणा-दीपक को
आओ, आओ प्रिय ! उकसा दो

नभ की फुलवारी मतवाली
तारक फूलों की उजियाली
कण-कण में बिखरी मद लाली
निखरे यौवन की हरियाली

ज्योत्स्ना का फेनिल मधुर हास
भरता कुमुदी में मधु मिठास

स्वप्नों का थरथर पुलक रास
ज्योतित करता दृग-तम विलास

निशि-सखि का सुषमांचल झकोर
बहती मारुत की मृदु हिलोर
प्रिय आलिंगन में बँध विभोर
यौवन रस अधरों पर बटोर

ये जग-शतदल की सुकुमारी
कलियाँ सोयीं प्यारी-प्यारी
सुषमा सौरभ सर की लहरें
ये मधु कल्लोलित स्तब्ध अरी !

उस ओर क्षितिज से सुरभिपात-
सा झाँक रहा नव अरुण प्रात
मृदु कनक चुम्बनों की उलझन
में डोल रहा नव नलिन गात

पर मेरी काली मलिन रात
स्मृति-सी बढ़ करती निठुर घात

कितना रोऊँ होता न ज्ञात
मुझ दुखिया का कब हुआ प्रात

अधरों पर निष्ठुर हास लिये
निर्मम छलना उपहास लिये
आशा स्वप्नों से घिर आती
कितनी अशांति उदभ्रांति पिये

चढ़ यौवन के रथ पर वसंत
आता कुसुमित कर अवनिवृंत
केशर पुलकावलि गुंजन से
पूरित कर सुरभित दिग-दिगंत

सिहरे पाटल के गाल लाल
काँपी कदंब की लता बाल
मधुरस कल्लोलित झूम रही
वन की डाली-डाली रसाल

तब मैं किंशुक-सा गंधहीन
सूखे करील-सा रसविहीन

अपने शूलों से बिंध-बिंधकर
रोता हूँ अवहेलित मलीन

जब मेघकुमारी सुकुमारी
नभ-आँगन में प्यारी प्यारी
बरसाती रूप-माधुरी-सी
मधु फेनोज्ज्वल बुंदियाँ न्यारी

जब तरु-वल्लरियों का यौवन
वधुओं का जावक मदमादन
रस सिहर भरे उर की कसकन
प्रिय को विलोकती खोल नयन

मैं चिर-विरही-सा एकाकी
है कितनी जलन और बाकी
सोचा—देखा करता अनुदिन
पीड़ित उर की नव दुःखझाँकी

जब शरद्-परी रस-मदमाती
नव परिणीता-सी रँगराती

शशि प्रियतम से चुंबित होकर
शुचि तुहिन स्वेद कण बिखराती

मेरे ये अपलक शून्य नयन
निज तिमिर ग्रसित दुर्भाग्य गगन
बेसुध-से देख तड़प उठते
सूना हत एकाकी जीवन

ये प्यार स्नेह के फूल फूल
खिल सुरभित कर पीड़ा-दुकूल
क्यों नित्य विकसते डाली में
मेरे ये कोमल फूल फूल

खिल अपने ही में मुरझाते
ये जग में कहाँ शरण पाते
कटु तिरस्कार के कुटिल शूल
नित इनको छेद-छेद जाते

ये सिसक धूल में मिल जाते
जी को कलपाते—दुलराते

मृदु सजग स्नेहमय दीपक से
प्यासे ये जल-जल बुझ जाते

मैं एकाकी विरही उदास
खेता जीवन-नैया निराश
इस अतल वेदना-सागर में
अवसान! तुम्हारा कहाँ वास

मेघपरी

किस नंदन-कानन से आयी मेघपरी सुकुमारी
नाच रही नभ के आँगन में सजनी पावस-प्यारी
मुक्त कुन्तलों का घन तम छाया है विश्व-गगन में
ये अधगूँथे शलभ-कुसुम गिरते हैं बिखर विजन में
मन्द समीरण के पंखों पर चढ़ यह निपट नवेली
नील नलिन अम्बर के भीतर थिरक रही अलबेली
नीलम नभ शतदल सुवृन्त की नव कलिका-सी प्रमुदित
कल्लोलित अम्बर-सागर की नव तरंग-सी नित-नित

लोल निशा के अधरों पर सुषमा की एक किरण-सी
स्वर्गंगा की धारा में अलका की मृदु चितवन-सी
तरल कुन्द मुक्तावलियों की उलझन में सुकुमारी
नाच रही चंचल प्राणों-सी सजनी मेघ-कुमारी
बिज्जुच्छटा-सी देह कान्ति नव हीरक जगमग-जगमग
ज्योतित कर देती जग का घन अन्धकारपूरित मग
निःश्वासों के झोकों से फहराता जब सुषमांचल
बुझ बुझ जाती हैं तारों की दीपशिखाएँ चंचल
झीने कुमुद कला घूंघट में शशिमुख छिप छिप खुल-खुल
एकाकी जीवन के प्राणों को करता पुलकाकुल
गन्धवाह वाहन अंगों से राशि-राशि रस-यौवन
झरझर निर्झर-सा करता नव वल्लरियों का चुम्बन
मेघपरी ! अयि नव नलिनी ! नाचो मेरे आँगन में
मधु-मुकुलित, रसपूरित स्वर्णकिरण कल्लोलित मन में
आओ ! छा जाओ यौवन के स्मरशर सम्मोहन-सी
स्वर्ण-स्वप्न-आलोड़ित उर में प्रिय के आलिंगन-सी

अलकों का संसार

तुम्हारी अलकों का संसार ! उनीदी अलकों का संसार

समीरण के झोंके अनजान
लिये मलयज का सुरभित भार
यहाँ बिखरा देते मधुमास
यहाँ छितरा देते घनसार
कलित किसलय का मृदु शृंगार

सिहरकर तब जाता है झूम तुम्हारी अलकों का संसार

अरे ! वह पगली मुग्ध बतास
लिये अल्हड़ यौवन का भार
लिपट कर मचल-मचल कर छेड़
पिलाती है मदिरा सुकुमार—
नशीले उन्मादों की धार

थिरकता है पागल-सा नाच तुम्हारी अलकों का संसार

तुम्हारे शशि-मुख पर अवदात
श्याम मेघों-सा पंख पसार
विहँस-कर छा जाता जिस काल
सहस दल पर अलियों का प्यार
कपोलों की पी मदिरा धार

नशे में हो जाता उन्मत्त तुम्हारी अलकों का संसार

इन्हीं अलकों का कंपन देख
झूमते कितने मत्त मलार
इन्हीं का बेसुध मान विलोक
मचलती हैं कितनी मनुहार
ललकती पागल प्राण बयार

बींधता कितने हृदय अबोध तुम्हारी अलकों का संसार

उषा की प्यारी बेला जान
जगाता इनको मारुत चूम
मदिर आलस की घड़ियाँ जान
सुलाते प्रिय मधुराधर चूम
दृगों में भर ज्योत्स्ना निर्धूम

इसी चुम्बन-राका में विहँस विहरता अलकों का संसार

गुँधे कितने अंजन के फूल
बँधे इनमें कितने उच्छ्वास
कल्पना की कलियों के बीच
बँधे कितने मूर्छित निःश्वास
मुकुल-मधु के नव-सरस विलास

इन्हें क्यों बाँध रही हो—यहाँ पड़ा है बँधा विश्व का प्यार

सुना था, इन अलकों के बीच
उमड़ बहती कविता अनजान
गया था करने मधु का पान
खो गया मेरा कवि नादानः
मिला मुझको सूना सा गान

अरे, कितना छलिया है देवि, मदिर कविता का यह आगार

तुम्हारी अलकों का संसार

———

भूल मत जाना पथी तरुणी तरुण मैं एक तुम-सा

(१)

गीत ये मेरे मिले पथ-रेणु में मैं था भिखारी
प्राण की वंशी भरे पथ भूल आई आयु सारी
इस नियति शासित पराजित भीरु जीवन के रुदन में
हो न पाया मैं मुखर भी तो अचेतन इस जलन में
कर न पाया संतरित मैं प्यास का वारिधि अपावन
खा गये अंगार मेरी पसलियों का सुख समर्पण
किस सुचीता के लिए व्याकुल जला यह भी न जाना
बालपन से ले प्रलय-मन्थन रहा चिर मूक प्यासा

(२)

व्यक्त भी तो कर न पाया लालसा के स्वप्न अपने
निज अभावों से अपरिचित आ गया स्वच्छन्द तपने
दूर मरु-संगीत-सा व्याकुल रहा ध्वनि-हीन तुम बिन
दूर था फिर भी तुम्हीं में रह चुका जैसे बहुत दिन
था अधिक अन्तर न—मुझ में थी सुलगती एक ज्वाला
एक बुझते दीप में भी जो न भर पाई उजाला
किन्तु सुख-दुःखमें तुम्हीं-सा मैं बँधा रहनें न पाया
काश ! पैदा ही न होता सुप्त ही रहती पिपासा

(३)

ज़िंदगी बीती मरण की गैल का शृङ्गार करते
शैल सन्ध्या-सा महावन की निशा का रूप भरते
यह अजब अभिमान अपना भी कभी तो हो न पाया
वासना तीखी विफल ज्यों व्यर्थता की एक छाया
खून मेरी हसरतों का विश्व ने कर तृप्ति पाई
यदि क्षुभित पाषाण-सा निस्पन्द रहता शान्त भाई !
था भला होता न मरघट-सी तृषाओं का प्रदर्शन
और यों होता न प्राणों की प्रखरता का तमाशा

(४)

पूर्वगामी इस पथिक को भूलना साथी न मेरे
देख तरुणी के सुमुख जब मर्म झंझावात घेरे
जब मधुर पगध्वनि किसी की वक्ष में तूफान लाये
एक अमृत वेदना जब उच्छ्वसित हो-हो जलाये
भूलना मुझको न जिसने भी प्रणय का स्वप्न देखा
गन्धगीतों से भरी जीवन्त जिसकी लौह-रेखा
था मिला संसार जैसा छोड़ वैसा ही चला जो
पर अजीवन में लिये आकंठ जो जलती दुराशा

(५)

माधवी वन में फिरे निःशब्द जब दक्षिण समीरण
जब कथा के शेष रहते कंठ भर आये, उठे मन
वृन्त-च्युत सूखे सुमन-सी छूटती तब सुधि किसी की
फेंकना मेरे गृही मत काल कोषों में अगति सी
बिंध वधू के चुम्बनों में भूलना मुझ को न साथी !
गूँथती जीवन-मरण की आँच मेरी कल्पना थी
तुम सफल, मैं किंतु था असफल यही सम्बन्ध क्या कम
तृप्ति वह कैसी न जिसमें याद भी आई निराशा

(६)

और कोई यह निखिल लिप्सा अगर यह दाह लाता
प्राण-पीड़क एक तृष्णा ले अगर उठने न पाता
सत्य कहता हूँ न जो करता बहुत था और सब कम
मार छाती पर चरण-आघात द्रोही लुब्ध भृगु-सम
मैं बँधा ज्वालामुखी अब तक कभी का डोल जाता
बाँध रक्खा है किसी ने, मैं न बन्धन खोल पाता
इस कफ़स में भी यहाँ चिरकाल जलने की न आशा
भूल मत जाना पथी तरुणी तरुण मैं था तुम्हीं-सा

गोधूली

कौन-कौन तुम राग-मयी, हिमकरकी नव ऊषा-सी
जीवन-रजनीके अतीत स्वप्नोंकी प्रत्यूषा-सी
रवि-किरणोंके अरुण-तरुण जीवनकी मुकुलित इतिश्री
दिवा सुन्दरीकी अन्तिम यौवन-छवि अँगड़ाई-सी

दूर क्षितिजकी अमराईमें किरणोंका नत गोपन
देख रही हो लहर-लहरमें अपना बिम्बित नर्तन
कुमुद बालके दूर्वा केशोंकी सेन्दुर रेखा-सी
चन्द्र मिलनके निशि सोहागकी प्रणय मधुर लेखा-सी

सखि ! सन्ध्याके अधरोंपर तव रजत गुलाबी चुम्बन
दीप रहा नव तारक-सा यह प्रणय ज्योतिका लघु कण
ऊर्मिल यौवनके उभार-सा लघु सोनेका अंचल
खस-खस पड़ता सोनजुही-सा सान्ध्य पवनसे चंचल

एकत्रित पश्चिममें हो तुम छायीं ज्योत्स्ना सजनी !
घन विषाद-छाया-सी लोहित रविकी जीवन-रजनी

अयि रहस्यमयि ! मुग्धमना ! ताण्डव मद तमकी रानी
यौवनकी प्रगल्भ धाराकी नव अस्थिर मनमानी

अपने ही उरकी धारामें तैर मृत्युमयि ! भीमा
रूपसि ! ढूंढ़ रही हो क्या निज मणि-मन्दिरकी सीमा

अलस मेघ-परिधान समेटे गोधूली सुकुमारी
किरणोंके टूटे तारोंकी भग्न रागिनी प्यारी

मेरे उरके कम्पनमें—सुख-दुखके उत्पीड़नमें
भर दो निज अवसादमयी मदिरा मेरे जीवनमें

मेरे मन्थर-अलस दिवा-स्वप्नोंमें तुम उतरो तो
मोह-अन्ध मदमादनमें अमरण अवसान भरो तो

मेरे चिर दुखका रीता सङ्गीत-प्रलयकी ज्वाला
यह अनन्त नैराश्य, कसक, प्राणोंकी अवसित माला

देवि ! तुम्हारी चितवनकी सन्ध्यामें इनका लय हो
सजनि ! तुम्हारे मलिन, करुण शृङ्गार जलें, विस्मय हो



पुरवैया

मृदु मन्द हंस गतिसे घन कान्तार वासिनि
तू कौन बह रही है
अस्थिर अधीर विस्मित री चंचला प्रवासिनि
मधुलुब्ध हो रही है
यौवन सुगर्विता-सी इस शशि-खचित निशामें
किस ओर जा रही हो
मगमें नदी नदोंमें सर निर्झरी दिशामें
कलमन्त्र गा रही हो

श्यामल सजल सुकोमल मन्थर तरल घनोंको
अलमस्त-सा बनातीं
कंकण क्वणित करोंसे सागर क्षितिज बनोंको
पुलकावली पिलातीं

इस शून्यके हृदयमें जागृत कुसुम कुमारी
कौतुक प्रगल्भ लहरी
अपलक निहारते हैं पाथोद वन विहारी
नक्षत्र नेत्र प्रहरी

इस सृष्टिके उदयसे त्रैलोक्यकी विहारिणि
अमरत्व प्रेयसी तू
चिर अप्सरा कुमारी मधु स्पर्श मोददायिनि
उन्मत्त उर्वशी तू

क्रीड़ापरा मदालस अस्थिर विलोल गतिमें
रोमान्च राग गाती
मदिरा सुवेश उन्मद गिरि तरु अरण्य सरमें
रति लालसा जगातीं

बैठी ऋतम्भरा छवि वानीर कुंज वनमें
तापस मनोज बाला
चिर स्थिर प्रशान्त पावन निर्माल्य शुभ्र मनमें
जलती हिरण्य ज्वाला

शंकित हुई प्रकम्पित क्यों पारिजात पीड़ित
त्रासित अबोध कन्या
कुछ भूल-सा गयी क्यों तप वह्नि ज्योति क्रीड़ित
नव स्पन्द भार धन्या

छेड़ो न क्षिप्र गतिसे कवरी मरन्द गन्धा
उद्दण्ड दीप उसका
कबसे जला-जलाकर अयि इन्दु बिम्ब बन्धा
करती प्रकाश शिवका

विद्रूप रूप इसका मृत्युञ्जयी लपकसे
आग्नीध्र ज्वाल धारी
उन्मत्त फेर देगा अपने प्रकम्प रवसे
गति मद-भरी तुम्हारी

शशि रश्मि स्फीत रजनी सोयी प्रभात पीड़ा
का स्वप्न ले दृगोंमें
लिपटी तिमिर करोंमें संसृति प्रभात क्रीड़ा
का भार ले रगोंमें

किन मर्म मधु दिनोंकी सुधि-सी तरल सुशीतल
आह्वान रागिनी-सी
दश दिशि भुवन भुवनमें छाया प्रसन्न कोमल
चित्रित स्वरूपिनी-सी

सुन वन कपोत कूजन केकी विलास कलरव
विमना न हो नवेली
उस ओर व्यक्त छाया सागर सँगीत वैभव
तू क्यों यहाँ अकेली

उस ओर ही चलो तुम मृदु शान्त बालिका-सी
अवसाद अश्रु भूलो
उसके असीम उरपर नक्षत्र मालिका-सी
झूलो सदैव झूलो

जिनका अनन्त यौवन कवि-स्वप्नकी पिपासा
बहती रजत सरी-सी
अलकापुरी पुनीता ले पुण्य प्राण आशा
तिरतीं सुछबि तरी-सी

शत-शत जनम मरणके निःस्वन तृणांकुरोंको
निज पार्श्वमें बिछाये
प्रतिपल लहर-लहरपर अकलुष तृषातुरोंको
पावन पवन बनाये

केवल तुम्हीं न जाओ पावस उसाँस लीला
उस शिव स्वरूप क्षणमें
मैं भी चलूँ बताओ घन-सा विषण्ण पीला
उस सिन्धुके रुदनमें

जग बात भीत कातर पीड़ा प्रशुष्क हतप्रभ
मुझको न ले चलोगी
सागर, महा जलधिका पावन अतल वितल नभ
क्या तुम मुझे छलोगी

सुख शान्ति तृप्ति छविके कललीकमें तिरोहित
नव प्राण रूप पाऊँ
होकर विलीन तुममें मूर्छा निधूम मोहित
तुम-सा बनूँ-बनाऊँ

सङ्गिनि ! विलोक आये वे दूत व्याल मणिसे
दे दे किरीट अपना
सपना सही ! सजा दे विस्मृति सुनील श्लथसे
कैसा अनिन्द्य सपना !!

मेरी 'तुम'

तुम्हें देख लेता हूँ जब लावण्य-पुञ्ज हे बाले !
एकाकिनि मल्लिका-लता-सी तेजतमी मधुशाले
जग का दुख दावानल घर्षण देवि लुप्त हो जाता
विपुल अनन्त विश्व में कोई शत्रु नहीं दिख पाता
तृप्ति हर्ष उल्लास शान्ति की जननि साधना रानी !
मूक तपस्वी की नीरव अनुभूति अनन्त कहानी
एक तुम्हीं पर होम दिया विभ्रान्त हृदय तूफ़ानी
श्रीचरणों पर मुग्ध सदा मदहोश पड़ा था मानी

आह एक क्षण के सुख पर जल भस्म हुआ यह जीवन
अन्धकार सा छू-छू कर तव स्वर्ण प्रभा पद पावन
वीचि-विचुंबित माधविका-सी पुलकित प्रीति लजाती-सी
अलस मौलश्री वनरानी सी कुंकुम रँग-रस माती-सी
झूम छनन झुक झूम डोलती जब जब सुधि मतवाली
दीपक सा जल-जल उठता मैं तम-तल-सागर आली
नयनों में चन्द्रासव भ्रू में ले रवि-आसव की खर आग
एक-एक चितवन में बलि-पथ इंगित करता तव अनुराग
बोलो सकुच सलज कुछ बोलो मेरे दुख की ज्वाला
कब से हेर रहा यह लोलुप रूप-शलभ मतवाला
बोलो कुछ डोलो तो हे झंकारमयी पाषाणी
द्रवित न करती क्या तुमको इस चातक की दुख-वाणी

सम्भार

तुम्हारी सुन्दरताका भार !

कितना गुरु है सजनि, काँप उठता है तन सुकुमार

अनोखी सुषमाका आगार !

रजनीकी भीगी अलकें जब बरस पड़ीं अनजान

भीग गया सौरभका अञ्चल ज्योत्स्नाका परिधान

स्वप्नलोककी मधुबालाके मलय गीतपर साज

बेसुध हो सोयी हो—है कितना पागल आह्लाद

अरे ! कितना भोला व्यापार !

प्राचीके आँगनमें जब किसलयकी मृदु मुसकान

छा जाती है अरुण-वरुण अधरोंका बन उपमान

अलस कमलिनीकी पलकोंमें यह सुन्दर संभार

खेल रहा है यौवनकी मदिराका बन अभिसार

प्रिये ! कितनी अल्हड़ मनुहार !

सुकुमारी ! यदि नहीं सँभलता उन्मद तन सुकुमार

रूप-राशि-संसार, अरे ! सुन्दरताका यह भार

तो मेरी कवितापर रख दो यह सौन्दर्य अपार

पुलकित होकर वहन करेगी अखिल साधना-सार

तुम्हारी सुन्दरताका भार !

शशि-किरण

सान्ध्य-दीपवेला में सस्मित मंद हंसगति चकित-चरण
माँ! मेरे आँगन में उतरी शशि की चंचल रजत किरण
कितना विस्मय-पथ चल आयी! सित, समीर-सी मौन परी
कल्लोलित स्वर्गंगा की मधु फेनिल मोती की लहरी—
सकुच स्तब्ध-सी देख रही माँ! मेरा सान्ध्य-प्रदीप ललाम
आँखमिचौनी का रूपक क्या बाँध रही है प्रिय अभिराम
ऊर्मिल ज्योत्स्ना के मानस की बाल कल्पना-सी सुकुमार
पुलक जाल में फूट पड़ी ले नव उडुओं से भाव अपार
निद्रा की नव श्याम-तरी में व्योमवेलि-सी शुचि छविमान
किस मधुवन से भर लायी माँ! शत-शत स्वप्न-कुसुम अनजान
रूप-निशा के अधरों की यह मधु-मुकुलित सम्मोहन तान
मेरे निर्जन स्वप्न-सदन में—इन्द्रजाल-सी मुग्ध-अजान—
छा जावे—ज्योतित कर दे माँ! मेरा अलस पलक संसार
स्वप्नलता—शशि-रजत-रश्मि ही मेरी निशा बने साकार

———

पावसगान

पावस कुमार घन बरसो
तापकरी उर्वी के उरमें कुसुम वाण रस सरसो
बरसो बादल बरसो
खोल रुद्ध छबि श्री गवाक्ष पट
सरित स्निग्ध श्यामल पल्लव घट
रंजित कर गिरि विपिन पुलक तट
हँस-हँस हरियाली सुख क्रीड़ा गीत गन्ध परसो
स्फटिक सलिल सिंचित वेतस वन
अनिल कम्प उन्मन गिरि आनन
सरि सर कास कुन्ज निर्झर तन
वन कपोत से चपल रंगमय इनमें नव नव दरसो
फुल्ल करो शर शस्य नीप दल
मद कल कूजित जग पथ प्रतिपल
पथिक वधू-कन्या स्मर चंचल
पुष्पाकुल समीर स्मिति विभ्रम रिमझिम झिम झरसो

पावस-गान

बरसे सावन के श्यामल घन

नभ की तरु सुषमा पर बिखरे
हिलते पल्लव दल हरे–हरे
उर में उमंग का रस, झर रे!
ये भरते मधु-कण परिपूरन

नव गर्जन रथ से मन्द उतर
ले कनक-दीप-कामना प्रखर
है कौन चंचला ज्योति मुखर
करती इनका नव रति अर्चन

जब खोल लोल कच भार धरा
कुछ काँपी पुलक विकल अपरा
लज्जा सी अपल अशेष गिरा
ये पागल कर उठते नर्तन
सावन के रसिया श्यामल घन

गीत

आणोंके शाश्वत दीप बार
अपलक निहारती हैं उरकी कलियाँ ले मधुका पुलक-भार
अपनी ही राकामें मुँद खुल
ये शशि-किरणों-सी पुलकाकुल
भावोंकी उज्ज्वलतामें घुल
चितवनके तारोंमें कितने नव गूँथ चुकीं छबि स्वर्णहार
अपने प्रियतम सौरभका चय
भर रँगतीं जगके कलि किशलय
पा स्तर-स्तरमें अपना परिचय
ये नवल प्रात-सी मद-समीरमें नाच रहीं रे बार-बार
रज-रजमें उभरा अभिनव मन
रे फूट पड़ा मुकुलित गुंजन
उमड़ा असीम चंचल यौवन
तिर-तिर रँग-रसके सुर-धनु-सी ये वृथा खोजतीं तृप्ति द्वार

उडुगन

नव नील निशा के उडुगन
मोती के चंचल उडुगन
अपने ही स्वप्न अयन में ये ज्योर्तिमय लघु जीवन
रे निशि की लहर-लहर में जब कर उठते हैं नर्तन
इनके नीरव गीतों में
छाया-सा आ छिपता है उस महाप्राण का कंपन
ये रूप-राशि के लघु कण
पुलकित आकुल कुछ उन्मन
ये किस सुभाग्य-लक्ष्मी के मृदु पद-स्पर्श से पावन
फूले अशोक-से नभ में कल्लोलित कर मधु का मन
ये आकांक्षा-से अपलक
जिसमें असीम अपनापन-माया का मद संमोहन
ये करते उर का मंथन
क्यों लहरा उठते लोचन
रे फूट पड़ा ज्योत्स्ना-सा इनके लघु उर का गुंजन
ऐसा ही खुलता जग का मन दल-दल कर परिपूरण
उल्लास, ललक, तृष्णा से
ये भर देते हैं मेरे जीवन के कुछ सूने क्षण
पर, मैं एकाकी निर्धन
मुझ में अनन्त उत्पीड़न

———

जगते ही क्यों मुझे बुलाते............

आधी रात सपनमें बीती जगते ही क्यों मुझे बुलाते
फोड़ निशा मण्डल क्यों भूपर आता फिर आह्वान तुम्हारा
प्रणयी स्वप्न विभोर हृदय क्यों असमय हो उठता हत्यारा
घू-घू करती आँच तुम्हारे मस्तकका जयनाद सुनाती
एक-एक आवाज़ कहींसे जैसे झंझाबात उठाती
मीठे ख्वाब उजड़नेको बन जाते कैसे मैं जग जाता
क्यों तुम मुझको आज बुलाते क्यों तूफान बुलाने आता
यह कैसी ललकार भयंकर मेरी क्षमताको अनजाने

आधी रात सपनमें में बीती जगते ही क्यों मुझे बुलाते
मैं भी एक अजब हस्ती हूँ सबसे जैसे दूर अकेला
किन्तु सभीके दुःखसे निर्मित मेरा अफसाना अलबेला
कुछ दिन हाँ कुछ दिन पहले ही मेरा भी था एक खिलौना
और उमङ्गोंकी बातें थीं ज्ञात कहाँ था खोना रोना
कागजकी नैयापर मैंने चुन-चुन तिनके महल बनाया
एक नयी दुनियाँमें जैसे दुर्दिनका पतवार लगाया
फिर किस्मतकी आँधी आयी मोल मरणका करनेवाली
आधी रात सपनमें बीती जगते ही क्यों मुझे बुलाते
अब भी सारी रात उसीका जैसे देखा करता सपना
आज वही तो हियका सम्बल आज वही सबसे बढ़ अपना
किन्तु पिपासित ही रह जाता जब सुनता चीत्कार निरन्तर
और उधर रणनाद तुम्हारा हो खामोश कहाँसे अन्तर
होता दर्द मुझे भी जब मैं देख जगतका रौरव पाता
मैं भी प्रतिहिंसासे प्रेरित पागल होता जल-जल जाता
किन्तु मुझे घुल बुझना भाता सबसे दूर उसीके द्वारे

आधी रात सपनमें बीती जगते ही क्यों मुझे बुलाते
चिर आभ्रान्त अशान्त तुम्हीं-सा मैं मेरा जीवन बेमानी
एक वेदना दानिनि मेरी मैं अपूर्णताकी कुरबानी
आया जब आदेश तुम्हारा जागे कितने टूटे तारे
बोल उठे खण्डहर भी जैसे खोले जन्म मरणके नारे
मैं भी घोषित करूँ तुम्हारा क्या यह निधन निनाद उजागर
सोख चलूँ क्या जीवन ज्वालामें उमड़ा तृष्णाका सागर
पर मैं तो पाबन्द किसीका दूर मृत्युकी छाँह जहाँ तक
आधी रैन सपनमें बीती क्यों मुझको दिलदार बुलाते
फेंक रहा है आँच सुहानी यह काँटोंका ताज़ तुम्हारा
अन्ध किये देती यौवनसे उमड़ी अङ्गारोंकी धारा
उठ-उठ दर्द तसल्ली देगा कब तक दोज़खका सरमाया
शेष रहेगी एक तमन्ना अर्घ्य न प्राणोंका दे पाया
घनतर होती जाती जैसे यह हुंकार अखण्ड असम्भव
आग लगी प्रेमीके घरमें आज जला ममताका उत्सव
किन्तु प्रलय तो दूर अभी अविनाशी युगका पर्व न आया

आधी रात सपनमें बीती क्यों तुम मुझको आज बुलाते
माफ़ करो कुछ दिन जलने दो ओ मेरे सर्वस्व अनामी !
काँप उठा जग देख तुम्हारी सत्ता मुक्त बन्ध अविरामी
फिर आऊँगा पास तुम्हारे ले छूँछा जीवन मतवाला
मेरे विद्रोही खप्परमें भर देना शोणितकी हाला
रक्त स्नात तब नृत्य करेंगे मुझसे कितने ही दीपंकर
आने तो दो वह मुहूर्त फिर तो विप्लव फूटेंगे घर-घर
आज अमङ्गल सृष्टा मेरे ! पीने दो अभिशाप किसीका
आधी रात सपनमें बीती जगते ही क्यों मुझे बुलाते

मौन !

मूक रह पाता सजनि मैं मूक भी तो रह न पाता

मूक ही जलते तृषासे दग्ध मरु पाषाण व्याकुल
मूक ही जलते सितारे मूक जलते दीप घुल-घुल
काश ! मैं भी मूक रहता सोख तृष्णाकी अमावस
हो न पाता यह मुखर आराधनाका सिन्धु पावस
और खामोशी न पूछो बीत जाता मौन जीवन
शेष गीतोंमें कहाँ यों भी हुआ जाता निवेदन
तो कदाचित् कुछ जलनमें तृप्तिका आभास होता
मूक रह पाता वियोगिन ! मूक भी मैं रह न पाता

प्राण जलते होंठ जलते मूक निश्चल डोलता मैं
दर्दकी रानाइयोंमें पर न अन्तर खोलता मैं
देखता दिन-रात लगते आग मधुबनमें निरन्तर
देखता जलती जवानी एक खोया स्वप्न पाकर
देखता तूफ़ान घिरते किन्तु घुट जाते जिगरमें
वस्त्रहीनासे बँधे चीत्कार चलते बन्द घरमें
प्यासका अवसाद मेरा पाप यह बरदान होता
मृत्यु बन्दी कर न सकती जन्मका निर्माल्य नाता
पर तुम्हारी प्रीति पाली मैं इसे कैसे छिपाता
दर्प संचित मर्ममें जो मैं उसे कब तक न गाता
भूल कब इस जन्मकी यह युग-युगोंकी प्यास आली
तृप्ति सूनी ही न जब जीवन-मरणके द्वार खाली
तृप्ति हाँ चिर तृप्ति ही ! जब कल्पनाकी आँचमें जल
दग्ध होते प्राण मेरे इन अभावोंमें अचंचल
भस्म होता किन्तु जितना भीगती यह साध मेरी
मूक रह पाता सजनि मैं मूक भी तो रह न पाता

हो रही अनुभूति जैसे प्रतिध्वनित तुम व्याप्त प्रतिपल
विश्वव्यापी स्वर विरहका बस तुम्हारा दाह उज्ज्वल
आज तो तुम स्वप्नपर चिर सत्य यह मेरी मुखरता
शेष फिर भी लालसा जैसे न क्षण-भर मर्म भरता
यह तुम्हारी व्याप्ति जीवनमें न जब तक शान्ति लाती
बस समझ लो है अधूरी प्राण तेरी ज्योति-बाती
आग वह कैसी न जिससे हों तरङ्गित नीर निर्झर
मूक रह पाता सजनि मैं मूक भी तो रह न पाता
चाहिए फिर आज मुझको साधनाकी ज्योतिधारा
प्रज्वलित दीखे सदा आलोक मङ्गलमय तुम्हारा
अस्त रविकी तम तृषासे हों निविड़ जब साँझके पट
मुक्तहो निर्बन्ध हो मेरी किरणके रूपका घट
और देखूं शेष सीमापर विकल तेरी दिपाली
मस्त रजनी गा उठे मैंने तुम्हारी प्रीति पाली
गूँजती मेरी तरङ्गें यह विसर्जन सुख अनोखा
आज व्याकुल बाहुओंसे मैं तुम्हारा पथ सजाता
मूक रह पाता सजनि मैं मूक भी तो रह न पाता
